श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

आत्मानुशासन प्रवचन

द्वितीय भाग

लेखकः—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला;

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण

१०००]

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीर प्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्डया, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

(२६) श्री सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, सेठ छदामीलाल जी जैन; फिरोजाबाद
(२८) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२६) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
(३०) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावड़ा, झूमरीतिलैया।
(३१) श्रीमती धनवंती देवी ध. प. स्व. ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(३२) श्री दीपचंदजी ए० इंजीनियर, कानपुर
(३३) गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
* (३४) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३५) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
* (३६) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ., सदर मेरठ
* (३७) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (३८) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
* (३६) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४१) ,, ला० बनबारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला
* (४२) श्रीमती शैलकुमारी जी, धर्मपत्नी, बाबू इन्द्रजीत जी वकील, बिरहन रोड, कानपुर।

नोट।—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं। श्रीमती बञ्जोबाई जी ध० प० सि० रतनचन्द जी जैन जबलपुरने संरक्षक-सदस्यता स्वीकार की है।

—।० * ०।—

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान् ; जो मैं हूं वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहं राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥

—: ० :—

आत्मानुशासन प्रवचन

द्वितीय भाग

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम् ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥१॥
पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥३१॥

पुण्यभाव करनेका आदेश— हे भव्य आत्मन् ! तुम पुण्यको करो । जिसने पुण्य किया है उस पुरुषके बहुत कठिन उपद्रव, जिनको कभी देखा भी न हो, ऐसे भी कठिन उपद्रव विभूतिके लिए होते हैं । देखो यह अशीत-रश्मि अर्थात् तीक्ष्ण गर्म जिसकी किरणें हैं—ऐसा यह सूर्य सारे जगत्में संताप पैदा करता है, लेकिन वही सूर्य क्या कमलोंमें विकास लक्ष्मीको नहीं धारण करता है ? इस छंदमें पुण्यके करनेका उपदेश दिया गया है । पुण्य का अर्थ है— पवित्र काम । शुभ यत्न करते हुए शुभ भाव करो । जो जिस स्थितिमें है, वह अपनी स्थितिके लायक पुण्यका अर्थ समझ सकता है । यह उपदेश एक सर्वसाधरण के लिए भी है और असाधारण पुरुषोंके लिए भी है ।

पुण्यभावका आधार अन्तःनिर्मलता— देखो पुण्य कब किसके बनता है ? उसीके उत्कृष्ट पुण्य बनता है, जो विकाररहित होनेकी उत्कण्ठा रखता है । अविकार स्वभावकी ओर जिसकी दृष्टि रहती है, परिणामोमे अपवित्रता जिसके आती है । कषाय भी मन्द हों—ऐसे पुरुषके ही तो उत्कृष्ट द्रव्य पुण्य बंधता है । तो पुण्य करो । इसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्य-पुण्यको बांध लो । द्रव्यपुण्यकी तो खबर नहीं है । द्रव्यपुण्य बांधे बंधता भी नहीं । आत्माका अधिकार केवल अपने परिणाम पर है । अपने परि-णाम को विकाररहित होनेके लिए कहा जा रहा है । जो पुरुष विकार रहित होता है । विकारोंमें जिसकी रुचि नहीं, अविकारस्वभाव ज्ञायक स्वरूपमे अपने उपयोगको लगाने रूप तपस्या कर रहा है और काम, क्रोध मान, माया, लोभ आदि इन कषायोंसे जो अपनेको बचाये रखता है— ऐसा आत्मा अन्तःप्रसन्न रहता है और जो कषाय करे, वह पराधीन

रहता है।

रागका विकट बन्धन— भैया! अनुभव से भी देख लो कि राग और मोहका कितना कठिन बन्धन है? कोई आपको रस्सीसे बांधे भी नहीं, आप अपने इसी देह-देवालयमें विराजे हैं, न कोई आपको पकड़े है, न गोदे है, न आपके साथ कोई २४ घण्टे लगा फिरता है, लेकिन रागका बन्धन अन्तर में ऐसा विकट है कि छोड़कर कहीं जा नहीं पाते। बन्धनका काम यह है कि एक खूंटे पर रोके रहना। घरकी खूंटी पर रोकने वालोंके लिए कौन सा बन्धन है? देखनेमें तो कुछ आता नहीं, सब अपने अपने देहको लिए अलग अलग बैठे हैं, पर भीतरमें जो स्नेह पड़ा हुआ है उस रागका ऐसा विकट बन्धन है कि उस बन्धन से हिलडुल नहीं सकता। कहा जाए? खूंटे से बन्धा हुआ जानवर तो खूंटेकी तरफ देखता भी नहीं है। खूंटेसे बाहर की ओर ही अपना मुख करता है, पर यहा का खूटा तो ऐसा दृढ़ है कि मुख खूंटेकी ओर ही रहा करता है। खूंटेसे बाहरकी ओर देखता भी नहीं है। इस प्रकारका विकट रागका बन्धन है और उसी बन्धनके मूल पर आए हुए क्रोधादिक विकारी सभी बन्धन इस जीवको आसक्त बनाये हुए हैं।

निर्विकार साम्यभावकी वृत्तिके लिए यत्न—हे आत्मन्! तू अविकार स्वभावकी ओर, अविकार वृत्तिकी ओर झुक और यत्न कर। तेरेमें वह निर्मलता प्रकट होगी। जिसमें वह आनन्द आता है जो तीन लोकके वैभव भी सामने आए, अधिकारमें हों, वहां भी वह आनन्द नहीं प्राप्त होता है देखो यदि शुद्ध हृदय है, उपयोग विशुद्ध है, सभी जीवोंके प्रति मित्रताका भाव है, किसी जीवके प्रति विरोध का परिणाम जगता ही नहीं है, वहां पर अन्तःप्रसन्नता रहती है। कहां है कुछ विरोध? सभी स्वतन्त्र हैं। अपना परिणमन लिए हुए हैं, अपनी योग्यताके अनुसार वे परिणमते हैं। मेरा कौन विरोधी है? कोई गाली देता हो, अटपट बकता हो, तेरेमें अश्रद्धा रखता हो, अप्रीति करता हो तो यह समझ कि जिसकी जैसी योग्यता है, वह अपनी योग्यताके अनुसार ही तो अपने परिणमन बनायेगा, तेरे लिए कुछ नहीं कर रहा है। जिसके पास जो है वही तो दे सकता है, यह भी ध्यान रख। अगर तुझे कोई गाली देता है, तेरे प्रतिकूल कुछ द्वेष उपजाता है तो समझ कि उसके पास जो है, सो कर रहा है और तेरे पास जो है सो तू कर। उस द्वेषकी बातको सुनकर तेरे पास भी द्वेषका भण्डार भरा हो तो तू भी द्वेष कर। तू भी अपनेमें ही द्वेष करेगा, दूसरा भी अपनेमें ही द्वेष कर रहा है। अरे! निर्विकारके क्षेत्रमें तो आ। बड़े बड़े उपद्रव भी तेरे लिए

वैभव बन जायेंगे।

वर्तमान दृष्ट त्यागभावका महत्त्व— भैया ! अभीकी भारतकी ही बात देख लो, जब भारत स्वतंत्र न था, स्वतंत्रताके लिए आन्दोलन चल रहा था, नेता लोग कितने शुद्ध चित्त और तप प्रिय बड़े सकटोंको सहनेकी शक्ति वाले जन-जनके उपकारकी वाञ्छा रख रहे थे उस समय उनके लिए उपद्रव भी विभूति बन रहे थे। अरे जिसे अधिकांश लोग भला मानें वही तो विभूति है। वे निर्मल चित्त थे उसका प्रसाद था। अब स्वतन्त्रताप्राप्तिके बाद परिग्रह-संचयकी बुद्धि आने लगी तो अब आज हालत देख लीजिए, किसके हृदयमें उनके लिए घर है। देशमें, गांवमे, घरमें जो पुरुष उदार है, निष्काम है, असत्य आदिकसे परे है उसका जीवन देख लीजिए कितना सुखमय है और जो अपने मनमें छल द्वेष दम्भ रखता है उसके जीवनको निरख लीजिए। अरे आनन्द चाहिए तो जैसे आनन्द मिलता है उस पद्धतिसे अपनी वृत्ति बना।

पुण्योदयमें उपद्रव भी विभूतिका कारण— भैया ! चाहिए तो आनन्द और दुःख पानेके करतब कर रहे हैं तो आनन्द कहांसे आयेगा ? आनन्द मिलेगा निर्मोह और निष्कषाय होने से। मोहसे उत्पन्न हुए दु खको मिटाने के लिए मोहीजन मोहका ही काम करते हैं। रागसे उत्पन्न हुए दु.खको मिटानेके लिए रागीजन रागका ही काम करते हैं। कैसे आनन्दका विधान बने, पुण्य करे अर्थात् पवित्र हों, आत्मपवित्रताके बिना सारे उपद्रव उपद्रव हैं और जो पवित्र चित्त है उसके लिए उपद्रव भी वैभव है। मरुभूति और कमठका भव-भवका प्रसंग निरखें तो यहां यह देखनेको मिलेगा कि मरुभूति के जीवने पवित्रताका घात नहीं किया और कमठके जीवने अपने अपवित्र भावोंका त्याग नहीं किया। हुआ क्या, दु:ख हुए, उपद्रव हुए मरुभूतिपर, पर वह समय तो टल ही गया। काहे का उपद्रव ? वे समस्त उपद्रव उनकी विभूति के लिए हुए। उनका आत्मा निर्वाण पधारा। उनके उपद्रवोंके और उपद्रवों की समतासे सहनके पुराण बन गए। आज लोग बड़ी भक्तिभावसे उनके उपद्रवोंके पुराण पढ़ते हैं और उन्हें पूज्य और आदरकी दृष्टिसे निरखते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक उपद्रवकी विभूतिकारणताका समर्थन— सूर्यका आताप एक उपद्रववत् है। आजकल थोड़ी ठंड है, इससे कुछ समझमें न आ रहा होगा। वैसाख जेठमे जब ऐसा लगता है कि सुबह एक घंटा ही दिन चढ़ा तो जान छुपानेकी पड़ती है, बड़े ठंडे ठंडे मकान बना लिए जाते हैं। इतना बड़ा आताप फैलाने वाला सूर्य उन दिनोंमें भी कमलोंको प्रफुल्लित करता है और सूर्यके अस्त होने पर वे कमल संकुचित होने लगते हैं। जैसे स्वर्

जितना उष्ण गर्मीमें अग्निमें तपाया जाता है उतना ही वह विशुद्धि और कान्ति लाता है। यों ही यह चेतन अपने आपमें सत्यका आग्रह किए हो और इतने पर भी सांसारिक उपद्रव आ रहे हों तो उन उपद्रवोंके सहन करने की क्षमता बनानी चाहिए। यह प्रमादी आराम आराम ही पसद करे, कष्टसे डरकर अपने आरामकी साधना बनाए तो इसमें वह आत्मकान्ति और आत्मशान्ति भी मिलना कठिन है, क्योंकि आरामके साधनोंकी भीतर में रुचि पड़ी हुई है और जहां देह और इन्द्रियके भोगोंके साधनोकी रुचि है वहां स्वरूपकी रुचि कहासे प्रकट होगी? अपना रहनसहन भोजन सब इस प्रकारका होना चाहिए जो आराम और आसक्तिकी रुचिको करने वाला न हो। यही पवित्रता है कि अपने आपमे विकार न बस सके।

उपसर्गकी प्रकृति— उपसर्ग दु खोंको देता है। सब लोग उससे घबड़ाते हैं, पर पुण्यवान्को उपसर्ग दु ख देनेमें भी समर्थ नहीं है। उपसर्ग हुलिया विगाड़ देते हैं, लोग कहते हैं, और संस्कृत भाषा जानने वाले लोग जानते हैं कि उपसर्गके जो ये प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निस्, निर, दुस, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, उत् सु अभि प्रति, परि, उप इत्यादिक शब्द हैं वे सब उपसर्ग कहलाते हैं। ये मूल शब्द नहीं हैं। जैसे हार यह तो धातुसे बना हुआ शब्द है, पर आहार, विहार, निहार, प्रहार, उपहार, संहार, अवहार, उद्धार, प्रतिहार-ये शब्द उपसर्गसे मिले हुए हैं। उपसर्गके शब्द जबकि शुद्ध धातुके साथ जुड़ गए तो उस क्रियाकी हुलिया ही विगाड़ दी। हारका अर्थ तो हरण करना है। उपहारका अर्थ है भेंट। देखो हारका जो असली अर्थ है उसकी मिट्टी पलीत कर दी उपसर्गके शब्दने जुड़कर। इसी कारण इन शब्दोंका नाम उपसर्ग रक्खा है। ये उपसर्ग जिस क्रियामें जुट जायें उस क्रिया की मिट्टी छेत देते हैं। विहारका अर्थ है चलना, प्रहारका अर्थ मारना, संहार का अर्थ है नाश करना, यों और भी समझिये ऐसे ही मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत देवकृत, ये उपसर्ग भी बडे कठोर होते हैं। बड़े साहसी पुरुष इन उपसर्गोंके होने पर भी दुःखी नहीं होते हैं। ऐसे कठिन उपसर्ग भी साहसी पुरुषोंको दुःख देनेमें समर्थ नहीं हैं।

पुण्यकी प्रकृति— जैसे सूर्य जगतभरको आताप उत्पन्न करता है लेकिन कमलको प्रफुल्लित करता है। एक दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्त उत्कृष्ट दिया जाता है। गर्मीके दिनोंमे खेतोंमे कटीले झाड़ खड़े हो जाते हैं वे भी हरियाते हैं, पर उनकी कोई खबर नहीं लेता। दृष्टान्तमें उत्कृष्ट ही बताया जाता है। ये पद्मकमल कितने कोमल पत्ते हैं, इनके कितने कोमल फूलके ढक्कन, फूलके पत्ते और पराग भी कितने कोमल हैं, किन्तु सूर्यके

आतापके प्रसंगमे भी वे फूले रहते है। यों ही पुण्यवान पुरुष भी बहुत कोमल होते हैं, पर कठोर भी बहुत होते हैं, उनका अंतरङ्ग कोमल है, पर क्षमता, सहनशक्ति, उपद्रवोंका झेलना इनके लिए वे कठोर रहते है। ये उपसर्ग और उपद्रव पुण्यवानोंको दुःख देनेमें समर्थ नहीं है। उपद्रव तो पापिष्ठ पुरुषोंको ही दुःख देनेका कारण है।

दुःखका कारण कलुषित वृत्ति— जैसे धन कम हो गया तो यह स्थिति किन्हें दुःख देगी? जिन्हें धनमे आसक्ति है और जिन्हें धनमें आसक्ति नहीं है उनको धनहानि दुःखका कारण नहीं बन सकती। जो अभिलाषा करे, पाप करे उसको ही ये उपद्रव दुःख देनेमे समर्थ हैं। सोचो जरा, दुःख है कहां? दुःख है अपने अशुभोपयोगमें खोटा चित्त बनाया, उपयोग बनाया चित्तको कलुषित कर लिया तो अपनेको दुःख होना प्राकृतिक ही बात है। परपदार्थका दुःख देना काम नहीं है, वह पुरुष इसी ढंगसे ही चल रहा है कि उसे दुखी होना ही चाहिए।

क्लेशविनाशका सुगम उपाय— किसी भी घटनाको सामने रख लो, किसको आप दुःख बोलते हो? अजी साहब मुकदमा लग गया है। ८-१० हजारकी जायदादका सवाल है। हार जायेंगे तो यह निकल जायेगी। इस समय बड़ी परेशानी है। अच्छा तुम्हें परेशानी मिटाना है तो सत्य ज्ञान बनालो। मेरे आत्माका तो मेरा आत्मस्वरूप ही है, अन्य तो मेरा कुछ है ही नहीं, बल्कि उसकी ओर लगाव होने से बरबादी और हो रही है। जरा तुल जावो इस सद्बुद्धि पर, संकट मिटानेमें कौन सी परेशानी है, बतावो। जनहानि हो गई, मेरा बड़ा इष्ट था गुजर गया, अब कैसे समय कटेगा? वह मुझे भी बहुत प्रेम करता था। अब क्या करें? अरे क्यों परेशानी सहते हो, सम्यग्ज्ञानका शरण लो। खुद ही खुदके लिए शरण है। कैसा यह ज्ञानानन्दका निधान है, स्वयं प्रभु है, स्वयंभू है। जरा अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि मत करो, सारा क्लेश मिट जायगा। क्लेश कुछ है नही। क्लेश तो बना-बनाकर किया जाता है और आनन्द सहज आता है, पर बना-बनाकर किया जाने वाला कष्ट तो इस मोहीको सुगम लगता है और सहजस्वरूप दृष्ट करना भर भी इसे दूभर हो रहा है।

आत्मसम्पत्ति— हे भव्य आत्मन्! पवित्र परिणामको करो, यही तेरी अचूक सम्पत्ति है। यदि पापोंका निरोध होता है, पाप रुक जाते हैं तो इससे बढ़कर और सम्पदा कुछ नहीं है, अन्य सम्पदावोंसे फिर क्या प्रयोजन है? सबसे बड़ी सम्पदा तो मिल गयी जिससे तत्काल शान्तिका अनुभव होता रहेगा और यदि पाप न रुके, विकार मोह रागद्वेष विरोध

दम्भ—ये सब चल रहे हों और अन्य सम्पदा लाखोंकी भी मिले, करोड़ोंकी भी मिले तो उससे क्या लाभ होगा, क्या मतलब सिद्ध होगा ? दुःख ही तो है। जैसे कोई पुरुष घर-घरमें परस्पर लड रहे हों, बड़ी कषाय जग गयी हो, भाई-भाईमें सास बहूमें, देवरानी, जेठानीमें और हैं बडे धनी, कई-कई खंडके महल हैं, बड़ी सम्पदा है, नौकर चाकर हजूरीमें खडे हैं, पर वे झगड़ालू पुरुष बडे भयावह हो रहे हैं, फिर सम्पदासे क्या सुख मिला और कोई गरीब भाई-भाई बहू सास एक दूसरेके दुःखमें सहानुभूति रख रहे हैं, गरीबीके दुःखमें कभी भूखे रहनेका, कम साधन होनेका क्लेश है तो खुदका क्लेश दबा लेगे और दूसरोंको क्लेशका अनुभव नहीं होने देंगे। इस प्रकार की सहानुभूति दिखायेंगे तो वहां देखलो वे सब सुखी हैं।

पावन परिणामसे आत्मोन्नतिके कर्तव्यका स्मरण—जहां पवित्रता है वहां सुख है, जहां सुमति है वहा सम्पदा है, जहां कुमति है वहां विपत्ति है। पुण्य परिणाम करो इसके प्रतापसे उपद्रव भी वैभवके लिए हो जायगा। श्रीपालको धवलसेठने समुद्रमे गिराया। कुछ ही समय बाद हुआ क्या कि श्रीपाल आधे राज्यके राजा हो गए और राजपुत्रीका उनसे विवाह हो गया। लौकिक सुखकी बात कही जा रही है। उपद्रव भी वैभवके लिए हो जाता है। किसीका पुण्य है, आप उसका बुरा करनेका यत्न अगर करें तो आपके ही यत्नके प्रसादसे उसे कुछ प्राप्ति हो जायगी, लाभ हो जायगा। उसको पवित्र परिणामका बहुत सुखद परिणाम है। अपने आपको सभालो, सब जीवोंसे मित्रता रक्खो, सबके प्रति क्षमाभाव रक्खो, सबके सुख और हितकी चिन्तना करो, अपने आपको निर्मोह निष्कषाय रखनेका उद्यम करो; ऐसी पवित्रतासे ही हम आप उन्नतिका मार्ग प्राप्त करेंगे।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः।
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः॥
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे।
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥३२॥

सांसारिक समृद्धियोंमें दैवप्राधान्यविषयक समाधान—पूर्व श्लोकमें यह बताया गया था कि हे भव्यजन ! तुम पुण्यको करो। जो पुरुष पुण्य करना है उसको कठिन उपद्रव भी आयें तो वे उपद्रव भी उसकी विभूतिके कारण बनते हैं। इस बातको सुनकर एक शंकाकार यह प्रश्न करता है कि कहीं किसी शत्रु आदिके द्वारा होने वाले उपद्रवको क्या भाग्यसे रोका जायगा ? वहा तो सामने लड़े, जितना बल हो अपने बलका प्रयोग करे और अपने इस पुरुषार्थ से इस उपसर्गको दूर कर लेगा। इसमें भाग्यकी

क्या बात है ? उसके समाधानमें यह छंद आया है, जिसमें निष्कर्षरूपमें यह बताया है कि सांसारिक समृद्धिमें भाग्य ही शरण है, पुरुपार्थको धिक्कार हो, वह व्यर्थकी चीज है।

सांसारिक कार्यमें ही दैवकी प्रधानता— इस प्रसंगमे यह जानना कि सांसारिक किसी कार्यके सम्बन्धमें पुरुषार्थ और भाग्यकी समस्या खडी की गयी थी और उस सांसारिक कार्यकी सिद्धिमे यह उत्तर दिया गया है कि तुम्हारा बल कुछ काम न देगा कि शारीरिक बलसे लड़ भिड़कर उस उपसर्ग को दूर कर दो। इसमे तो भाग्य ही प्रधान है, इतनी बात ध्यानमें लायें। उसका यह अर्थ नहीं है कि भाग्य ही शरण है और पुरुषार्थ बेकार है। जहा मोक्षमार्गकी बात कही जाय वहा तो भावरूप पुरुपार्थ ही प्रधान है। भाग्य क्या करेगा ? भाग्य तो यदि फूट जाय तो कल्याण होगा। भाग्य हैं ये कर्म। जब ये कर्म मिट जाते हैं, फूट जाते हैं तभी तो सिद्ध पद मिलता है। लोग इसे असगुन समझते हैं। किसीसे कह दिया जाय कि तेरे तो भाग्य फूट गए, तो दिया तो उसने आशीर्वाद है, पर उसे वह अकल्याणकी बात समझना है। अगर भाग्य फूट जाये तो वह सिद्धकी कोटिमें आ जाय।

पुण्योदयमें ही सांसारिक समृद्धिकी लभ्यता— भैया ! पुरुषार्थ ही काम देता है मोक्षमार्गमे, पर एक सांसारिक कार्यका यह जिक्र चल रहा है। यह उपद्रव भी वैभवरूप बनता है, उपद्रवोको भी टाल दिया जाता है, इस सम्बन्धमें जब यह विकल्प आए कि उपद्रवोको तो बलसे टाला जायेगा। लाठी, हथियार, बंदूक, आदिका प्रयोगपूर्वक सामना करना, अपना बल दिखाना, ये कार्य किए जायें तो उपद्रव टलेंगे, उसके उत्तरमे यह कह रहे हैं कि नहीं, वहां दैव ही शरण है। जैसा पुण्यका उदय होगा उसके अनुसार यह लौकिक रक्षा है। उसके लिए एक दृष्टान्त बता रहे हैं कि देखो जहां बृहस्पति तो मत्री है और हथियार वज्र है, सैनिक देव हैं, स्वर्ग ही किला है और ईश्वरका बड़ा अनुग्रह है, ऐरावत हाथी है, बड़ा भारी आश्चर्यकारी है, तिस पर भी ऐसा भी इन्द्र दूसरोंके द्वारा संग्राममें भग्न हो —ने क्या किया ? दैव ही शरण है। यह दृष्टान्त एक । जैसे कि कोई लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रको भी इन्द्रको भी हराने वाले रावणको राम लक्ष्मणने प्रसिद्ध बात है, उसही को सही नजर रखकर यह कि देखो तो इन्द्रका कितना अद्भुत बल होता है, लोग देवता हैं, [illegible] मन्त्री हैं और वे भी हार गए। अब [illegible] ही शरण

है और इस बल आदिक लगानेका यह पुरुषार्थ व्यर्थ है। प्रकरण संभाल कर सुनना है। किस दशामें और किस प्रकारके प्रकरणमें यह बात कही जा रही है?

दैवसाफल्यसूचक लोकप्रसिद्धि व लोकहृदय— भैया! अपन सब भी यह कहते हैं कि मेहनत करनेसे धन पैदा नहीं किया जा सकता है और दृष्टान्त देते हैं कि मेहनत तो घसियारे, लकड़हारे बहुत करते हैं, दिन रात करते हैं, पर मुश्किलसे १॥) ही प्राप्त होता होगा और जो शारीरिक कुछ श्रम नहीं करते हैं, दो चार घंटे दूकान पर बैठ गए या आफिसमें चले गए दूसरों पर हकूमत जता आए, सैकड़ों हजारोंकी आय कर लेते हैं। तो यह बल कुछ काम नहीं करता। यह तो उनके पूर्वकृत पुण्यका ही माहात्म्य है, ऐसा बोलते हैं और बात भी सही है कि नहीं? समस्त जीवोंके जीवन मरण, सुख और दुख ये सब उनके किए हुए पुण्य पापके उदयके अनुसार मिलते हैं। समयसारके रचयिता कुन्दकुन्दस्वामीने भी बंधाधिकारमें यह बात स्पष्ट की है और कलशकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी यह बात बतायी है कि जीवन सुख दुख मरण सबका कर्मोदयके अनुसार नियत है। वहां यह इसलिए बताया है कि हे आत्मन्! तू जीवन मरण सुख दुख करने करानेमें कर्तृत्व बुद्धि मत कर। मैंने इसे सुख दिया अथवा दुख दिया, इस प्रकारका कर्तृत्वका आशय मत बना। वह तो शिक्षणके लिए कहा गया है। उस ही तरहकी बात यहां इस शिक्षणके लिए कही जा रही है कि तू लौकिक बाधाओं को मिटानेमें और यहां की सम्पदाकी प्राप्ति करनेमें तू बलका अभिमान न कर। बलके उद्यमसे तू न अनिष्टका नाश कर लेगा और न इष्टका संयोग मिला लेगा, इस बातमें तो दैव ही शरण है।

सांसारिक लाभमें दैवकी प्रधानताका दृष्टान्त— एक कथानक है कि दो आदमियोंमें परस्परमें विवाद हो गया। एक बोला कि पुरुषार्थ प्रधान है और दूसरा बोला कि भाग्य प्रधान है। दोनोंकी लड़ाई राजाके पास पहुंची। राजाने न्याय किया। दोनोंको एक बड़े कमरेमें बन्द कर दिया। कच्ची हवालात कर दी और कहा कि तुम दोनोंका निर्णय परसों होगा और वहां पर किसी जगह दो लड्डू आध-आध सेरके छिपाकर रख दिए, ताकि ये भूखे न रहें। जिसका भाग्य होगा, पुरुषार्थ होगा तो मिल जायेगा, नहीं तो न मिलेगा। अब वे दोनो उस कमरेमें बन्द हो गए। चौबीस घण्टे व्यतीत हो गए। भूखके मारे दोनोंकी हालत बहुत खराब हो गई। उनमें जो पुरुषार्थ वाला था वह सोचने लगा कि वह क्या करे? उसने इधर उधर देखा और देखने पर उसे एक बर्तनमें दो बड़े लड्डू मिल गए। वह बहुत खुश हुआ

और भाग्य वालेसे बोला कि तुम बैठे रहो, देखो हमने पुरुषार्थ किया तो ये दो लड्डू मिल गए। उसमेंसे एक लड्डू तो उसने खुद खाया और दूसरेसे भी कहा कि तू भूखा है, ले तू भी एक लड्डू ले ले। दोनोंने एक एक लड्डू खाया। अब परसोंका दिन आया। राजाके पास न्याय हुआ। राजाने कहा कि बोलो तुम दोनों अपनी अपनी बात। तो पुरुषार्थ वाला बोला कि महाराज! इसका भाग्य क्या करे यह तो भूखा मर जाता, अगर मैं इसे एक लड्डू नहीं खिलाता। मैंने ऐसा पुरुषार्थ किया कि यहां वहां खोजा और वहां दो लड्डू मिल गए। सो हमने अपना भी पेट भरा और इसको भी खानेको दिया। भाग्य वाला बोला कि महाराज! हमारे भाग्य ने ही तो हमें खाने को दिया।

उदयानुसार समृद्धिका आवागमन— भैया! यह तो सांसारिक कार्यों का प्रकरण है। जितनी भी सांसारिक समृद्धियां मिलती हैं उन सबका मिलना कर्मोदयके अनुसार है। वहां बल क्या करेगा? कोई पुरुष बड़ा ही पहलवान हो और कहे कि इस सेठसे मैं ज्यादा बलवान् हूं, मैं ताकतसे इससे कई गुना अधिक धन कमा सकता हूं, यों उसका अहंकार करना व्यर्थ है। जैसा उदय होगा उस प्रकारकी प्राप्ति होगी। देखो जिसका अनुकूल उदय होता है उसके लक्ष्मी इस प्रकार आ जाती है कि न वह कल्पना कर सकता है कि सम्पदा कैसे आ गई? न दूसरे समझ सकते हैं कि यह सम्पदा कहां से आ गयी? जैसे नारियलका फल होता है, पेड़के ऊपर लदे हुए नारियल के फलोंके अन्दर पाव डेढ़ पाव पानी कहांसे आ जाता है? उसका छिलका भी बहुत कठोर होता है। उसमें पानी यों ही आ जाता है। इसी प्रकार जब लक्ष्मी आती है तो यों ही आती है और देखा होगा कि हाथी कैथको खा ले तो सारा रस उस कैथका वह हाथी चूस लेता है और जब वह लीद करता है तो बेल पूराका पूरा निकल आता है और उस कैथ में न कहीं छेद मिलेगा और न कहीं दरार मिलेगी। पूरा वैसाका ही वैसा रहता है, पर उसे उठाकर देखो तो २ तोलाका भी वजन न होगा, इतना निःसार हो जाता है। तो हाथीके द्वारा खाए गए कैथमें से रस कहां निकलकर अलग हो गया? इसी प्रकार जब उदय प्रतिकूल होता है तो सम्पदा भी यों ही सब बिखर जाती है। इस बातमें तो दैव प्रधान है, इसे संसारमें कौन टालेगा?

कर्मक्षेत्रमें साम्यकी अशक्यता— आजके समयमें साम्यवादकी भी होड़ मच रही है, यह अच्छी बात है। ये साम्यवादी यदि पूरी समता ला दें तो यह तो बड़ी खुशीकी बात है, पर उनके बलकी यह क्या बात है? उनके हाथकी बात है क्या यह कि हर जगह समता ला दें। भले ही कुछ

प्रतिबन्ध लगाकर धन किसीके बढ़ने न पाये। एक माध्यम बनायें, भले ही छीना झपटी आदि से व्यवस्था बनालें, पर पुण्यका उदय केवल धनसंग्रहमें ही निहित नहीं है। यश बढने, हुकूमत करने आदिमें पुण्यफल फलता है। उसमें कोई कुछ फर्क मिटा देगा क्या? उसी साम्यवादके देशमें एक चपरासी हुकूमत सहता है और सूखा रूखा खानेको मिलता है, शारीरिक आराम भी नहीं है और वहां ही बड़े मिनिस्टर लोग या वैज्ञानिक लोग बडे आराममें रहते हैं, हुकूमत भी करते हैं, यश भी बढ़ता है, लोकमें उनका नाम भी चलता है। यह भी बराबर कर दे बड़ी अच्छी बात है, पर किसीमें कहां सामर्थ्य है, इन बातोंमें तो दैव ही शरण है, भाग्यके अनुसार यह सब होता है।

पुण्यव्यवहारकी उपेक्षाका निवारण-- यह बात इसलिए कहनी पड़ी कि कोई पुरुष यह सोचे कि क्या धरा है पुण्य करनेमें, क्या धरा है धर्म करनेमें, यह तो जिसकी लाठी उसकी भैंस, पर यह कहावत फैल हो जाती है। पुण्य करो, परिणाम निर्मल रक्खो, शुभ कार्य करो, धर्मदृष्टि रक्खो, इससे ही लौकिक सुख मिल सकेगा। बलका भरोसा मत करो कि मेरे शरीर में ताकत होगी तो मैं सब कुछ कर लूँगा। अरे शरीरकी ताकत भी उस पुण्यके प्रतापसे मिली है। जहां पुण्यकार्यमें लगनेका उपदेश दिया जा रहा था, उस प्रकरणमें यह बात कही जा रही है।

दृष्टान्तका घटितरूप-- इसी दृष्टान्तको, जो घटना घटी है उस प्रकार से सुना जाय तो उसका यह अर्थ लगावो कि मुनीसुव्रतनाथ स्वामीके तीर्थमें जब कि श्रीरामचन्द्र जी का समय था और इन्द्ररावण आदिक भी राजा थे उस समय इन्द्रने क्या किया? उसे ऐसी इच्छा हुई कि मैं स्वर्गोके इन्द्र जैसा वैभव यहीं भोग लूँ। उसने अपनी नगरीका नाम स्वर्ग रक्खा और उसमें रहने वाले मनुष्योंका नाम देवता रक्खा। ये देव हैं और अपना नाम इन्द्र रक्खा और ऐसी व्यवस्था बनायी कि चार बडे-बडे योद्धा राजा नियुक्त कर दिये, ये इस स्थान पर रहेंगे और सुरक्षा करेंगे। उनका नाम लोकपाल रख दिया। अपराधियों को दंड देनेके लिए जमीनमें बहुत चौड़ा गहरा कुवा खुदा दिया। वह इतना चौड़ा था कि जिसमें चीजे धरने उठानेकी व्यवस्था भी बन सके, उसका नाम नरक रख दिया। जो अपराध करेगा उसे नरकमें डाल दिया जायेगा। इस तरह इन्द्र जैसा वैभव बनाया था एक राजाने, जिस का इन्द्र नाम प्रसिद्ध हुआ। किसी समय रावण अपनी सेना सहित कहीं जा रहा था, तो किसी घटनापर इन्द्रसे युद्ध हो गया। उस युद्धमें इन्द्रको हार खानी पड़ी। इन्द्र नामका राजा था, मनुष्य था, उसकी प्रसिद्धी है यह कि

इन्द्र भी हार गए। उसने अपने मंत्रियोंका नाम बृहस्पति रक्खा था। अपने मुख्य हस्तीके वाहनका नाम ऐरावत रक्खा था, सब नकल कर रखी थी स्वर्गोंके इन्द्रकी। ऐसा यह इन्द्र भी दूसरे राजावोंके द्वारा हार गया। तो यह व्यक्त है कि भाग्य ही वहां सब कार्यकारी हो रहा है और पौरुष धिक्।

भावपुण्यका फल— अरे इस बल पौरुषको धिक् हो। माना यह कार्यकारी नहीं है इससे शिक्षा पराधीन बननेकी नहीं लेना है कि भाग्य ही हमारा देवता है। सो भाग्यके हाथ जोड़ते रहो। अरे हाथ जोड़नेसे कहीं भाग्यका प्रसाद न मिल जायगा? यहां तो यह बात कही जा रही है कि सांसारिक वैभवकी प्राप्तिमें तुम अपने बलका अभिमान मत करो, कर्तृत्व का अभिमान मत करो। यह बात तो उदयानुसार हुआ करती है और तुम्हें यदि इन समृद्धियोंकी वाञ्छा हो तो पुण्य करो, पवित्र भाव बनावो, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाणका आदर करो अथवा इन पांच पापोंका सर्वथा परिहार करो। जो जीव अपने देहबल पुरुषार्थसे ही लौकिक सुख दुःखोकी सेवा करनेका निर्णय बनाये हैं और इस ही कारण अपने पुरुषार्थसे जैसा बने तैसा उपाय करते हैं इन लौकिक समृद्धियोंके संचयका, उनको कहा जा रहा है कि संसारिक समृद्धियोंके लिये पुरुषार्थ तो निष्फल है।

दैवबलमें बलाधायक भावपुण्य— पुण्यकर्म है, उसीका नाम दैव है। दैव अनुकूल हो तो पुरुषार्थ भी कार्यकारी है। दैवके अनुकूल बिना पुरुषार्थ कुछ कार्यकारी नहीं। कोई चाहे कि हम शरीरबलके प्रतापसे वैभववान् बन जायें अथवा हम किसी भी मनचाही बातको कर डाले, तो ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें पुरुषार्थ ही करना है इस कामके लिए तो भावरूप पुरुषार्थ करो। देहके बलप्रयोगके पुरुषार्थको कार्यकारी यहां नहीं कहा गया। तुम भावरूप पुरुपार्थ बनावो, उस पुरुषार्थसे उसका निमित्त पाकर जो पुण्यकर्म बँधेगा उसके उदयके कालमें तुम स्वयं समृद्धि पावोगे। यहां प्रयोजन भावपुरुषार्थ करानेका है। तुम पवित्र भाव करो, अपना निर्मल भाव बनावो, किसी जीवको बाधा पहुंचाने की न सोचो। इससे यह शिक्षण लो कि तुम इस देहबल आदिकके पुरुपार्थकी निरर्थक जानकर पुण्यकार्यको ही साधक जानो। उपदेश यह दिया है कि पवित्र भाव बनानेके काम करो। देहबल सिद्धि न करेगा। द्रव्य पुण्यकर्मकी जो बात की गई है वह द्रव्य कर्म अचेतन है, उसको करनेका तात्पर्य अपने परिणामोके निर्मल बनानेसे लेना है, क्यों कि परिणामोंकी विशुद्धिके निमित्तसे ही तो पुण्यबंध होता है ना और उसके उदयकालमे समृद्धियां होती हैं।

व्रतादिक पुण्यभावोंमें लगानेका आशय— इस प्रकार मूलमें तो भाव पुरुपार्थ ही है। भौतिक दैहिक पुरुपार्थका अभिमान छुटाने के लिए और भावात्मक निर्मल परिणाम बनानेरूप पुरुपार्थकी ओर उत्साह देनेके लिए इन शब्दोंमें कहा गया है कि पुरुपार्थ निरर्थक है और भाग्य ही शरण है। मर्म उसका यह है कि पवित्र परिणाम बनावोगे तो सब सुख मिलेगा, देहबल पर ही तुम कुछ करना चाहो तो यह तुम्हारे साध्य बात नहीं है और देहबल भी तो आखिर पुण्यउदयसे मिला है और वह पुण्य भी हमारे पूर्वके भाव पुरुपार्थसे होता है, पर मूल बात परिणामोंके निर्मल बनानेकी कही गयी है। जैसे कि इस छदसे पहिले छंदमें कल बताया गया था कि पापोंका परिहार करो और शुद्ध व्रत तप सयम इनमें अपनी प्रवृत्ति करो, उससे ये सब सकट टलेंगे। पुरुपार्थ ही प्रधान है, मगर भाव पुरुषार्थ प्रधान है, देहबल का पुरुषार्थ नहीं। इस बातको इसमें सिद्ध किया है।

भर्तारः कुलपर्वता इव भवो मोहं विहाय स्वयम्।
रत्नाना निधय· पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः॥
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये।
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी॥३३॥

वर्तमानमें भी ज्ञानी व्रतियोंके सभवपनेका समर्थन— प्रकरणमें हिंसा आदिक पचपापोंके त्यागका वर्णन चल रहा है। उस प्रसगमे जिज्ञासु यह कह रहा है कि हिंसा आदिकका त्याग करना तो दिखता नहीं और पापविरतिका आचरण करने वाले भी सम्भव नहीं नजर आते हैं। केवल उनकी बात ही शास्त्रोंमें सुननेमें आती है। तब कैसे इस पर विश्वास बने कि हिंसा आदिकका त्याग करना सम्भव है, शक्य है। ऐसी आशंका करने वाले पुरुपको उत्तर इस छंदमें दिया गया है। हे जिज्ञासु पुरुष! तू इसे असम्भव और अशक्य मत जान। बड़े-बड़े मानव पूर्वकालमें जिस मार्गपर चलें उसही मार्गपर यथाशक्ति चलने वाले सत पुरुष आज भी प्रत्यक्ष दिखते हैं याने सदाचारकी विभिन्न दिशाओंमें अग्रगत पुरुष अब भी नजर आते हैं। क्षमाशील पुरुष, दूसरोंके अपराध होने पर भी उनको हृदयसे क्षमा कर देने वाले पुरुष अब भी जगत्में देखे जा रहे हैं।

प्राय ·सकल ग्रामोंमें कुछ एक सदाचारियोकी सभावना— भैया! गांवमें किसी विशिष्ट पुरुषपर प्रायः जनताकी विशेष दृष्टि नहीं रहती है, लेकिन जो बाहरके लोग कभी आते हैं और उनकी विशेषता समझी जाती , हैवे भी तो अपने गांवमें कोई विशिष्ट ही हैं। वहा उनका भी उचित कोई

विशेषस्थान लोगोंके द्वारा मिलता है, सो भी नहीं है। यह एक प्राकृतिक बात है क्या इसही गांवमें संयमी क्षमाशील सरल पुरुष न मिलेंगे? सभी जगह अब भी कोई-कोई त्यागमें रत पुरुष देखे जाते हैं। किन्हींके असत्य बोलनेका त्याग है तो वे अपने व्रतको बराबर निभाते हैं। कई पुरुष अब भी सत्यवादी यहां भी नजर आते हैं। व्यापारके प्रसंगमें भी कोई सत्यवादी व्यापारी अब भी मिलते है। और यह सोचना भ्रम है कि सच बोलने से व्यापार नहीं निभता। हम सच बोलनेका दृढ़ संकल्प किए हुए नहीं हैं। कभी कुछ बोलते हैं, फिर फिसलते हैं, तो ऐसी कदाचित् होने वाली सचाई का प्रभाव लोगोंपर नहीं पड़ता और इसी कारण वे अपने उद्देश्यमें निराश नजर आते हैं। जैसे कुलाचल पर्वत पृथ्वीको आधार बनाये हुए है, पर पृथ्वी विषयक मोहसे रहित है, पृथ्वी पर खड़े हैं, पर पृथ्वीको लपेटकर पहाड़ नहीं रहते हैं। वे ऊँचेको ही उठा करते हैं, ऐसे ही संत पुरुष इस भूमिपर पाये जाने वाले अनेक जीवोंको पालते पोषते हैं, उनके आत्माके उत्थानका यत्न करते हैं, फिर भी उन जीवोंमें भी मोहसे रहित हैं। कितने ही दृष्टान्त ऐसे सज्जन पुरुषोंके अब भी कहीं-कहीं नजर आते है।

एक धर्मप्रिय जैन गृहस्थका दृष्टान्त— मुजफ्फरनगरमें एक सलेखचंद नामक जैन अपनी सच्चाईके लिए अपने नगरमें बड़ा प्रसिद्ध हुआ। करीब १६ वर्ष पुरानी घटना है। जब सेलटैक्सके मामलेमें कचेहरी गये तो जजने वकीलसे पूछा कि तुम्हारी दुकान कितनी बड़ी है? तो वकील बोले कि कोई ५ फिटके करीब लम्बी चौड़ी है। तो सलेखचंद बोले कि इसके भीतर एक बहुत बड़ा हाल भी है। फिर वकीलसे जजने पूछा कि रोज कितना बिकता है? वकील बोला कि कभी २० का, कभी ३० का, कभी ५० का माल बिकता है। तो सलेखचंद बोले कि हां साहब इतनेका बिकता है पर कभी ३००, ४०० और ५०० का भी बिक जाता है। जज कहता है कि वकील साहब! तुम कितना ही भुलावेमें डालो, मगर यह मालिक तो सच ही बोलता जाता है। बड़ा प्रभाव पड़ा उस जज पर। उसने वही टैक्स पास किया और ईमानदारीका नोट किया अपने कागजातमें। कितने ही पुरुष अब भी सत्यपर तुले हुए रहते हैं, सच्चाई नहीं खोते हैं। भैया! लोकवैभव मिलेगा उतना ही जितना कि उदयमें है।

ज्ञानी विरक्त पुरुषोंका सद्भाव— लोग यह आशंका करते है कि धर्म के पालने वाले कहा हैं आज और हिंसा आदिक पापोंके त्यागी आज कहा होते हैं? पर जिन्हें ज्ञानकी धुन लग जाती है, आत्महितकी चिन्तना हो जाती है वे व्यापार आदिक को छोड़कर अपनी ज्ञानसाधनामें रत हो जाते

हैं, ऐसे गृहस्थ अब भी भारतमें हैं। यह तो एक भीतरी ज्ञानप्रकाशकी महिमा है। ज्ञानप्रकाश होने पर उसे फिर कहीं आकुलता नहीं रहती है। वे सबसे महान् वैभव और उत्कर्ष शुद्ध आत्मप्रकाशको मानते हैं। बाहरी पदार्थोंको, इन वैभव सम्पदावोंको तो वे जीर्ण तृणके समान समझते हैं। जैसे जीर्ण तृणसे किसीको मोह नहीं होता, लोग उसे फेंक देते हैं, फिर उसकी ओर मुड़कर भी नहीं देखते हैं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष वैभव सम्पदासे मोह नहीं करते हैं। चक्रवर्ती जैसी सम्पदाको भी क्षणभरमें ही फेंक देते हैं। सम्यग्दृष्टीजन नाक मलकी तरह धन वैभवको असार समझते हैं। उन्हें अपने इस ज्ञानकी रुचि इतनी विशिष्ट होती है कि वे इस ज्ञानको ही निरख निरखकर ज्ञानमें ही रत रह-रहकर अपनेमें ही प्रसन्न रहा करते हैं।

पापके उदयकी मूल परिभाषा— भैया! जगत्में सार क्या है? कौन सा पदार्थ ऐसा है जो इस आत्माका पूरा पाड़ देगा? इस जीवनमें भी परसे पूरा नहीं पड़ता। आत्मासे ये समस्त बाह्य पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। जो धनसे सुख मानते हैं, उन्हें धन विपदाका कारण बन जाता है। देखते तो रोज-रोज जाते हैं कि कोई थोडे ही दिनोंमें बड़े धनी हो गए और फिर किस तरहसे उनकी मृत्यु हो जाती है? पापका उदय इसे नहीं कहते कि धन कम हो गया। पापका उदय इसे कहते हैं कि जिसे वस्तुकी इच्छा हो और वह वस्तु न मिल सके। जिसे धनकी चाह है और धन न मिले, उसे पापका उदय कहा जायगा। जिसे धनसे मोह नहीं है और न मिले धन तो उसे पापका उदय नहीं कहते हैं। जिसे यशकी वाञ्छा हो और यश न मिल सके उसे पापका उदय कहते हैं। इसमें मर्म यह है कि वाञ्छा ही पाप है। इच्छा हो तो यह इच्छा ही पापका उदय है। फिर बाहरी बातें मिलें न मिलें, उनपर उपचार किया जाता है।

क्लेश मेटनेका त्वरित एक उपाय— जिसे धनकी कमीका दु:ख मिटाना हो तो उसका बहुत सुगम उपाय है। शायद कोई यह सोचता हो कि ऐसा उपाय बताया जायेगा कि कलसे धन घरमें बरषने लगेगा। धन कम है उसका क्लेश है। क्लेश मिटानेका बड़ा सुगम उपाय है। वह क्या उपाय है? इस सर्वोत्कृष्ट निज स्वरूपका आदर करो, धनमें आस्था मत रक्खो, उसकी इच्छा ही न करो, धनकी कमीका क्लेश तुरन्त मिट जायगा। धनकी कमीका क्लेश नहीं होता है, किन्तु अन्तरमें जो यह कुश्रद्धा बनी है कि धनसे ही महत्त्व है और धनसे ही हमारा जीवन है, उसके बिना मेरा जीना निरर्थक है। ऐसी जो अतः खोटी आस्था हो गयी है उसका क्लेश हो रहा है, धनकी कमीसे नहीं।

आनन्दका साधन सम्यक् विवेक— जितने जो भी आज पुरुष हैं, जो भी समागम मिला है वह किसी न किसी दिन बिछुड़ेगा तो जरूर। भले ही कितना ही परिवार मिल जाय, स्त्री हो गयी, बच्चे हो गए, और-और भी परिवार जम जाये, जम जाने दो, क्या सदा यह जमाव रहेगा ? वियोग होगा ही, तो जिस सांसारिक सुखका फल दुःख ही है, अन्तमें दुःखी होना ही पडेगा, उस सुखमें मग्न होना क्या विवेकियोंका काम है ? जो इष्ट समागममें खुशी मानते हैं उनको बहुत कठिन दुःख होगा, क्योंकि वियोग जरूर होगा। जिसका सयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा। जिसका वियोग हुआ है उसका सयोग हो या न हो, वहां कुछ नियम नहीं हैं, पर संयोग वाली चीजका तो नियमसे वियोग होगा। तब किस बातका हर्ष करना ? क्यों व्यर्थकी कल्पनाएँ राग स्नेह बढा-चढ़ाकर अपने आपका घात किया जा रहा है ? सम्यग्ज्ञानमे बड़ी सामर्थ्य है, इसका बड़ा चमत्कार है, सर्व आनन्द सम्यग्ज्ञानमे ही निहित है।

ज्ञानियोकी विशेषतायें— ज्ञानीपुरुष और हिंसा आदिक पापोंके त्यागी पुरुष अब भी यत्र तत्र दर्शनको मिल जाया करते हैं। ये ज्ञानीपुरुष समुद्रकी तरह रत्नोंके निधान हैं। कितने पड़े हैं रत्न समुद्रमे, पर समुद्रको रत्नोकी परवाह ही नहीं है। कितना विशाल पुण्य वैभव है ज्ञानीके, किन्तु इच्छा ही नहीं है ज्ञानी पुरुषोंके। ऐसे ही आज भी कदाचित् कुछ पुरुष इस प्रकारके नजर आते हैं जिन्हें धन वैभवमे आसक्ति नही है। उनकी निर्मोहता को निरखकर लोग आश्चर्य करते है कि कैसे इनका चित्त ऐसा हुआ है ? इन्हें कुछ परवाह ही नहीं है, ये संत पुरुष सम्यग्ज्ञान आदि रत्नोंकी खान हैं और धन आदिककी वाञ्छासे रहित हैं। ये ज्ञानी पुरुष जिनका उपयोग संसारके समस्त वैभवोंसे विरक्त हुआ है, वे अपने आपको ही संतोष का आश्रय समझते हैं। वे मानो आकाशकी तरह निर्लेप हैं। किसी वस्तुका जैसे आकाशमें स्पर्श नहीं होता, ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष अपने आपको शुद्ध सहज ज्ञायकभावस्वरूप निर्लेप निरख रहे हैं।

प्रज्ञाका प्रताप— भैया ! प्रज्ञाकी बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि है। मलिन अवस्था होनेपर भी अपने आपमे निर्मल सहजस्वरूपको परख लेना और उस पर लक्ष्य कर लेना यह प्रज्ञाका काम है। वहां भी देखो तो हम यदि किसी चीजका आश्रय करें, अशुद्ध जीवोंको अपने उपयोगमे रक्खें तो उससे हमारा उत्थान न हो सकेगा। ऊधम करने वाले बच्चेको भी जब आप राजा बाबू कहकर समझाते हैं तो वह ऊधमसे हटकर शान्त बैठ जाता है। अपने आपके आत्मामें हम इस वैभवको रागादिकको उपयोगमें लेते रहें, अपने

को बँध हुए मानते रहें तो इससे अशुद्धता न मिटेगी, अशुद्धता और जकडेगी। इस अशुद्ध अवस्थामें भी उसके सत्त्वके कारण स्वयं कुछ सहज स्वरूप तो है ही, कहीं सत्त्वका परसे सांकर्य तो नहीं हो सकता। कोई दो पदार्थ मिलकर एक सत्त्व तो नहीं बन जाते। जो पदार्थमें स्वतन्त्र सत् है उसका ध्यान अगर हम कर सकते हैं तो इस शुद्ध स्वरूपके आश्रयसे हमारी ये अशुद्धताएँ दूर हो जायेंगी।

ज्ञानियोंका उत्कर्ष जनताकी शान्तिका भी साधक— ज्ञानी पुरुषका बड़प्पन महंतता ऊँची स्थितिमें अवस्थित हो जाना, ये सब जगतकी विश्रांति के लिए कारण बनते हैं। देखो प्रभु सकल परमात्मा निर्दोष सर्वज्ञ केवली प्रभु हो गए तो उनके वातावरणमें उनकी प्रेरणासे लाखों जीवोंका उद्धार हो गया। ज्ञानी पुरुषोंमें महंतता जगत्के प्राणियोंकी शान्तिके लिए है। ये अणु वाह्यपदार्थोंसे लिप्त नहीं हैं। यह ज्ञानी सत भी अपने आपमें अखण्ड है और अन्य किसी पदार्थको लिए नहीं रहता है। कितनी प्रज्ञाशक्ति है कि देहके अणु-अणुमे यह जीवप्रदेश समाया हुआ है, एकक्षेत्रावगाह है, फिर भी पात्रमें पारेकी भांति इस देहको अपने स्वरूपमात्र न्यारा निरख सकें यह कितनी ऊँची प्रज्ञाशक्ति है? अपने आपको अकेला परिपूर्ण सबसे निराला आकिञ्चन्य माने विना शान्तिका लाभ नहीं हो पाता है। वाह्य-पदार्थोंकी ओर कितना ही लगा जाय, कितने ही वाह्यपदार्थ मिल जायें, पर उन समागमोंका उपयोग कभी भी शान्तिका कारण नहीं बन सकता है, क्यों कि वह उपयोग वहिर्मुख वृत्तिसे चल रहा है।

साधु संतोंकी विरलताका समय— यह आत्मानुशासन ग्रन्थ गुणभद्र आचार्यने लोकसेन मुनिको समझानेके लिए रचा है। जो किसी समय अपने मुनिपदसे शिथिल होने लगे थे। वह जमाना ऐसा ही था जिस समयमें इस ग्रन्थकी रचना हुई है। यथार्थ मुनि पदके धारक बहुत थोड़े रह गये थे। जब आदर्श सहयोगी विशेष नहीं मिलते देखनेको तो स्वयका भी भाव कुछ शिथिल होने लगता है, ऐसी प्रकृति भी प्रायः है। ऐसे समयमें किसी जिज्ञासु ने कोई तर्क किया होगा कि मुनिधर्म तो धारण करना बहुत कठिन है। मुनि धर्मके आचरणकी वात तो चौथे कालकी है। अबके समयमें मुनि कौन हो सकता है? ऐसी आशंकापर यह उत्तर दिया गया है कि अब भी कोई-कोई मुनिधर्मके यथार्थ धारण करने वाले उपलब्ध हैं। धर्मका अभाव समझकर अपने आचरणको शिथिल मत कर अथवा कदाचित् तेरी दृष्टिमें न भी आयें कोई मुनिधर्मके यथार्थ पालक तो तू स्वय तो समझ और ऐसा तो जान कि इस कालमें भी जहां कहीं ऐसे आचरणके पालनहार सम्यग्ज्ञान,

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके निधान कोई यतीश्वर हों, वे मेरे हृदयमें विराजे। भावना तो शुद्धस्वरूपकी बना। पंचमकालके अंत तक भी यथार्थ सम्यग्दृष्टि मुनि होंगे। होंगे विरले क्वचित् कदाचित्, पर अभाव नहीं कहा गया है।

धार्मिक जीवनकी सिद्धिसाधकता— धर्मकी प्रीति ही हम लोगोंको शान्तिमे पहुंचानेमे समर्थ है। अन्य पदार्थोंकी प्रीति तो धोखा, छल, विकार सभी अवगुणोसे भरी हुई है। अन्यत्र आस्था न करे, अपने आपको धर्म-पालनमें लगावें। पवित्रभाव बने, पुण्य कार्य हो, धर्मकी दृष्टि जगे—ऐसे पवित्र भावों सहित यदि यह जीवन बीत जाय तो यह बड़े सुभवितव्यताकी बात होगी। इस जीवनको धर्मपालनके लिए ही माने, धनसंचय भोग भोगना आदिक सांसारिक सहूलियतोंके लिए अपना जीवन न समझें।

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननिदंष्ट्रान्तर्गतो।
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममुम् ॥३४॥

धर्मके प्रसाद बिना मोहकी विडम्बना— ज्ञान और आनन्दके निधान निज सहजस्वरूपके निश्चयधर्मकी साधनासे रहित होने पर संसारके मोही जीवोंमें क्या विडम्बना बनने लगती है? उस विडम्बनाका एक छोटा रूपक इस छंदमें बताया गया है। पिता तो पुत्रको और पुत्र पिताको नाना प्रकारसे ठगकर मोहकी प्रेरणासे लेशमात्र सुखको पानेके लिए राज्यपदकी वाञ्छा करते हैं। बडे आश्चर्यकी बात है कि यह मुग्ध लोक पड़ा तो है जन्ममरणके दाढ़के भीतर, जैसे दांतोंके मध्य दाढ़ होते हैं, किन्तु जन्म मरणका जो भय है उसे नहीं देखता और नाना ठग्गी करके, विश्वासघात करके यह लौकिक सुखोंको भोगना चाहता है।

मृत्युका विस्मरण और रौद्रध्यान— आधुनिक इतिहासमे भी एक प्रसिद्ध घटना है कि एक शाहजादाने पिता को कैद करके बलात्कार करके राज्यभार ले लिया था। पुत्र पिताको ठगता है, पिता पुत्रको ठगता है किसीका हृदय किसीके लिए स्पष्ट नहीं हो पाता है। कहां सुख है? पिता संतानके विषयमें नाना कल्पनाएँ करके दुःख मानता है और पुत्र पिताको अपने आराममे बाधक मानकर दुःख मानता है। कितनी ही जगह देखी जाती हैं ये बातें कि माता पिता बड़े लाड़से, वडे चावसे गोदमें ही बच्चेको रखकर देखते रहें ऐसी बड़ी प्रीतिसे और कितने ही कष्ट सहकर सेवा करते हैं, पुत्रको बड़ा कर देते हैं और पश्चात् पुत्र ही ऐसी प्रतिकूल प्रवृत्ति करे

लगता है कि जिससे माता पिता अपनी पहिले की गयी सेवाओंको पछताते हैं। कितने प्यारसे पाला पोसा, पर आज यह गतिकी जा रही है। अरे यह छलपूर्ण व्यवहार केवल एक विषयभोगके साधनोंकी प्रीति पर बना हुआ है और कारण क्या है उसका ? यह सब धर्म मर्मके परिचयके बिना अधर्मका नाच ही रहा है। जैसे कोई सिंहकी दाढ़में आए हुए पशुशरीरको सिंह चाब रहा है, उसका तो विचार नहीं करता और खेलनेका प्रोग्राम बनाए हुए है तो यह कितनी विडम्बनाकी बात है ?

मृत्युकी दाढ़में बैठकर फिर विषयोंका खेल— स्वयंभू रमण समुद्रमें एक बहुत बड़ा मत्स्य होता है जो अपना मुँह बाये रहता है और उस मुँह में सैकड़ों मछलियां खेल किया करती हैं, और कितनी ही मछलियां गलेरे से पेट तक उतर जायें, किलोल मचाएँ, पर उन मछलियोंको यह पता नहीं है कि किसी भी समय यह अपना मुँह दाब दे और हम लोगोंको स्वाहा कर जाय। किसीके जन्मनेकी और मरनेकी दोनोंकी निश्चित् तिथि नहीं बनती है कि कितने बजे कब मरेंगे अथवा पैदा होंगे। पैदा होनेका यह अदाज तो होता है कि अब होनेके दिन करीब हैं, पर मरनेको तो कहीं भी चलते फिरते अचानक ही मर जाय। ऐसा यमराजके फदमें तो यह जीव पड़ा हुआ है और यह यहां विषयोंका खेल करता है।

कालकी गोद— 'जगत् चबेना कालका, कुछ मुखमें कुछ गोद। विषय सुखके कारणे मूरख माने मोद ।।' संसारी प्राणियोंकी ऐसी हालत है जैसे बालक लोग अपने कुर्तेमें रखकर चने चबाते हैं तो कुछ चने गोदमें लिए हैं, कुछ मुखमें डाले हुए खा रहे हैं और कुछ खा चुके हैं, ऐसे ही मानों हम आप सब कालके कपड़ेकी छोरमें पड़े हुए हैं, हम आप सब कालके चबेना बन रहे हैं। कुछ कालकी गोदमें बैठे हैं मरने के लिए, कुछ कालके मुखमें पड़े हुए हैं और कुछ काल द्वारा खाये जानेके लिये उसकी गोदमें पड़े हैं, ऐसी तो स्थिति है, किन्तु मूर्ख पुरुष इसही स्थितिमें मोद मानते हैं। हम बड़े अच्छे हैं, बड़ा सुख है। किसी बुड्ढेसे पूछो— कहो बाबा जी मजेमें हो ? तो वह कहता है, हां हम बड़े मजेमें हैं, इतने नाती हैं, इतने पोते हैं, सब ठीक है। अरे कहां मजेमें है वह ? शल्य तो लगी हुई है उन नाती पोतोंकी, और बता रहे हैं कि हम मजेमें हैं। अरे इस आरामका दिलमें बसना यही एक शल्य है।

अतृप्ति और भटकना— अहो मोही जन कितना विपरीत मार्ग बनाए हुए दौडे जा रहे हैं मृगमरीचिका जलकी तरह। जैसे प्यासा मृग गर्मीके दिनोंमें रेतीली नदीके बीच खड़ा हुआ सूखी नदीके रेतको तक रहा है, बहुत

दूरकी रेत पानी जैसी मालूम होती है, वह दौड़ता है पास पहुंचता है तो देखता है पानीका नाम नहीं, और भी सिर उठाया, आगे फिर पानी देखा, निकट पहुंचने पर देखा कि पानीका नाम नहीं। इसही प्रकारसे दौड़-दौड़कर वह हिरण अपने प्राण गंवा देता है। ऐसे ही हम आप बचपनसे लेकर वृद्धावस्था तक और करते ही क्या हैं ? बचपनमें मां बापकी गोदमें रहकर सुख माना, वहां तृप्ति न हुई तो कुछ कलाये सीखनेमें सुख माना; मोटर, साइकिल संगीत आदि कलाएं सीखने पर भी तृप्ति न हुई तो अब सपत्नीक बने। वहां भी तृप्ति न हुई तो पुत्रोंके स्वप्न आने लगे। पुत्र भी हो जाये, फिर भी तृप्ति तो होगी नहीं, एक न एक बात आगे खड़ी हो ही जायगी। तृप्ति कहांसे होगी ? यों धन वैभवके संचयमें, यशकी प्रतिष्ठाके स्वप्न देखे जा रहे हैं और अतृप्ति बढ़ती जा रही है, दौड़ लगाते जा रहे हैं। हिरणकी तरह इसी दौड़में थककर हम आप प्राण गँवा देंगे।

सुख हम ही में था नहीं जाना— भैया ! सुख हम ही में था, पर हमने समझा नहीं। आनन्दका पिंड ही यह ज्ञानपुंज आत्मा है पर इसमें हम उपयोग नहीं लगा रहे हैं और निःसार व्यर्थ भिन्न परपदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेकी आशा कर रहे हैं। जैसे कस्तूरी वाला मृग, जिसकी नाभिमें कस्तूरी बसी है, गंध आ रही है, भ्रम यह हो रहा है कि किसी औरसे आ रही है यह गंध, सो वह मृग उस गंधको ढूँढ़नेके लिये दौड़ लगाता है, है खुदके ही पेटमें। नाभिमें तो कस्तूरी है उसकी गन्ध आ रही है और दौड़ लगा रहा है बहुत दूर-दूर। ऐसे ही हम आपका है आनन्दस्वरूप, पर अपने इस आनन्दस्वरूपपर जब उपयोग नहीं देते हैं और बाहरमें भ्रम बनाया है तो पराधीन बनकर भटकते ही रहेंगे। कहां आनन्द मिलेगा ?

वास्तविक पराधीनता— पराधीनता विषयोंकी वाञ्छाका नाम है। किसी जंगलमें कोई दो पांच मित्र जा रहे थे। एक शिकारी, चिड़ीमार जाल बिछाकर छिप गया। कुछ चिड़ियां आयीं, फँस गयीं। एक मनुष्य कहता है कि इस बगीचे ने इस चिड़ियाको फांस लिया। दूसरा कहता है अरे नहीं, इस चिड़ीमारने चिड़ियाको फांस लिया है। तीसरा बोला, चिड़ीमारने नहीं फांसा, जालने फांसा है। चौथा बोला कि जालने नहीं चिड़ियाको फांसा, जालके नीचे पड़े चावलोंने। पांचवा बोला कि उन चावलोंने नहीं फांसा, किन्तु उन चावलोंके भोगनेकी जो इच्छा है उसने फांसा। ऐसे ही हम आप लोग अपने दुःखमें, अपने फँसाव बन्धनमें बुरी मौत मर रहे हैं। दूसरेका नाम लगाते फिरते हैं। इन लोगोंने मुझे बन्धनमें डाल दिया, ऐसा दुःखी किया। अरे तुझे किसीने दुःखी नहीं किया, अपने ही परि

णामो को बिगाड़कर, भ्रमको बनाकर, सांसारिक वाञ्छाएँ बढाकर अपने को खुद ही दुःखी कर डाला है, दूसरे ने दु'खी नहीं किया है।

विषयचाहकी दाह— यह तेलसे जलने वाला दीपक अपने सिर पर कांच रखकर मानों कसम खाकर कह रहा है कि मैंने इन पतंगोंको नहीं जलाया, ये पतंगे खुद उड़कर आ गए और गिरकर जल गए। इन विपय-भोगोंने हमे नहीं बाधा, किन्तु हमही लोग अपने उपयोगको विकृत करके खुद ही इन दंदफदोंमें वॅधे और फँसे हैं। वँध तो गए और वँधनेका उपाय भी सुगम है, पर कोई अंतरङ्गमें भी सोचनेका साहस नहीं करता। कितना विकट वन्धन है, हम जकड़े हैं इनको भीतरमें। ज्ञानकी चर्चाएँ करके बहुत-बहुत वाते भी हांकते, धर्मका बड़ा रूपक भी करते, पर भीतरमें फर्क नहीं आता, ऐसा कौनसा वन्धन है? प्रभुके दरबारमें कहते कि हे प्रभो! मेरे ममता न जगे, विषयकपाय न जगें, पर मंदिरमें खडे रहनेके काल तक भी गारन्टी नहीं है कि ममता न जगे और कपाय न जगे। दरवाजेके बाहर जानेकी तो वात ही क्या कहें? ऐसा कौनसा राक्षस इसके अन्दर पड़ा हुआ ये सब व्यवस्थाऐं बना रहा है? वह राक्षस है स्वरूपका अपरिचय।

आत्मसुध विना वरबादी— भैया! हम भावना नहीं करते हैं अपने स्वरूपकी, इसीसे सक्लेश भोगते रहते हैं। मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसा सोचिये बार-बार। मैं केवल ज्ञानपु ज हूं, सोचते जाइए, इस देहको भी भूल जाइये, इतनी दृष्टि बनाना है अपने आपके बारेमें। यह भी तरग न उठे कि मैं अमुकचद हू, अमुक गांवका हू, इस देहको भी भूल जावो। धन सम्पदा तो प्रत्यक्ष जुदे हैं, जड़ हैं, अपने स्वरूपकी भीतरसे सुध लो। मैं ज्ञानमात्र हू, इसकी बारबार भावना करो। यही है वास्तविक पुरुपार्थ, जो अब भी काम देगा और आगे भी काम देगा। इस शुद्ध सहजस्वरूपकी उपासनारूप धर्म की दृष्टि नहीं करते और नाना विकल्पोंमें उलझे रहते हैं। फल क्या होगा? जिन समागमोंको देख देखकर खुश होते हैं ये तो मदद करेंगे नहीं। इनकी तो इतनी ही कृपा है कि मरने पर तुरन्त जला दें। इससे आगे और कुछ आशा न रक्खें। सब छोड़कर जानेके बाद क्या बीतेगी खुदपर, यह तो इस जीवनकी करतूतपर निर्भर है। क्या पाप किया, कितनी बहिर्मुखता की, कितना ममत्व किया? जैसा जो किया उसका फल मिलेगा।

जन्ममरणकी दाहके बीच— जैसे किसी बांसके भीतर कोई कीड़ा पड़ा हो और बासकी उस कोरके दोनों छोर पर आग लग जाय तो अब वह कीड़ा क्या करे? ऐसे ही हमारे आपके दो छोर हैं जन्म और मरण। उस जन्म-मरणके बीच पोलमें हम आप पड़े हुए हैं। जन्मसमय भी आग लग

रही है, मरणमें भी आग लग रही है, अब कहां जायें, क्या करें ? लोग जन्म होते समय हर्ष मानते हैं, पर जन्म लेने वाला जो दु:ख पाता है उसको वही समझे। वह तो दु:खके मारे मरता है, कितना कोमल शरीर और किस तरहसे निकलता है, कितना दु:ख वह पा रहा है, और कदाचित् उल्टा सीधा हो जाय तो उसकी बड़ी दुर्गति है। जन्म समय बच्चेको इतनी कठिन तो आपत्ति है और परिवारके लोग ढोल बजा रहे हैं, परिवारके लोग अपनी कषाय संभाल रहे हैं, वह अपने कर्मोंको भोग रहा है। मरणसे जन्मका दु:ख मामूली नहीं है और मरणका भी दु:ख बड़ा विकट दु:ख है। मरणका दु:ख भी कुछ कम नहीं है, जिसे ममता है उसे दु:ख है। शरीरसे प्राण निकलने में इतना कष्ट नहीं अनुभवा जाता है जितना कष्ट कमाये हुए धन वैभवके छूट जानेके विकल्पका होता है और फिर ये परिवारके लोग सब छूट रहे हैं इसका ख्याल करके उसे बहुत बड़ा क्लेश होता है।

मोहियोंके प्रसगके प्रसादका एक दृष्टान्त— भैया ! देखा फिर परिवार के लोग भी क्या करते हैं कि मरने वाले की छाती पर नाती पोते सन्ते आदि छोटे बच्चे धर देते हैं ताकि छाती ठंडी हो जाय मरते समय, पर उससे तो मोहकी अग्नि और धधकती है, वह बुड्ढा तो मोहमें पड़कर मर रहा है। देखो यह मोहियोंका समूह है, जो कुछ बने वह कम है। एक पंडित जी किसानोंके एक गांवमें पहुंचे। सब किसानोंको पता लगा कि पंडित जी महाराज आये हैं, यह कथा वार्ता करेंगे। खूब जमात जुड़ गयी। पंडितजी महाराज ने १५ मिनट तक खूब संस्कृत झाड़ी, संस्कृतके श्लोक सुनाये। सुनने वाले लोग बोले कि पंडित जी के वाय लग गयी है क्या ? जब वाय लग जाती है तो कोई अट्ट सट्ट बकता है। उन सुनने वालोंको सब अट्ट सट्ट लगा। सो सबने सलाह किया कि अरे अपने माते साहब को जल्दी बुलावो, पंडित जीके वाय लग गयी है। थोड़ी देरमें सन्निपात हो जायगा तो मर जायेंगे। झट बुलाया माते साहबको। सो वायकी दवा होती है दाग। सो उन्होंने बड़ी भक्तिसे कहा कि अपने यहां पंडित जी आये हैं, इनको कुछ नुकसान न हो जाये, तो झट आगके तीन चार तकुवा गर्म किये और दो चार जनोंसे कहा कि पंडित जी को डांट कर पकड़ लेना। वाय वाले आदमी को ताकत भी बहुत आ जाती है। पकड़ लिया तीन चार लोगोंने और शरीरमें जगह-जगह तकुवा लगाना शुरू किया। अब वह पंडित जी और भी संस्कृतमें भगवानका स्मरण करने लगे, क्योंकि दु:ख आया। वे बोले कि अरे वाय तो और तेज हो गयी है तो एक दो जगह और तकुवा लगा दिये। जब पंडित जी बहुत दुखी हो गये तो थोड़ी देरमें चुप हो गए। लोग भी

शान्त हो गये। पर पंडित जी अपने कर्मोंको इशारा कर माथा हाथसे ठोकने लगे। तो लोगों ने कहा कि इनके सिरमें वायका दर्द रह गया है, सो सिरको भी खूब तकवासे दागा।

हितपथ प्राप्ति— यहा तो ऐसी ही व्यवस्थाकी वात है। कहां जायें, क्या करे ? जहां मोही मोहियोका ही संग है प्रसग है, वहांसे अपनी निवृत्ति का रास्ता निकाल लेना बहुत कठिन है और कुछ कठिन भी नहीं है। जब तक अपने आत्मस्वरूपका परिचय न हो तब तक सारे संकट मिट नहीं सकते हैं। मैं निःसंकट ज्ञानानन्दका पिंड हूं—ऐसी भावना बार-बार भाये तो अपने सारे सकट छूट सकेंगे। इन मिले हुए समागमोंपर विश्वास न करें, न इन्हें पकड़कर रहें, कुछ अपनी सुध करें और अपने स्वरूपकी उपासना करके यह उत्कृष्ट नरजीवन सफल करें।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥

वास्तविक अन्धा— जगत्में अंधा कौन है व सूझता कौन है ? इस सम्बन्धमें वास्तविक दृष्टि देकर निर्णय करो। विषयोंमें जो अधा है वह ही वास्तविक अंधा है। जिसके विषयोंके अंधकारके कारण विवेक नष्ट हो गया है, कुछ भी अपनी जीवन यात्रा ठीक बना ही नहीं सकता है, ऐसा पुरुष अधा कहलाता है। और जिसे अपने हित अहितका विवेक है, जो जगत्के जीवों के स्वरूपको और अपने स्वरूपको भली भांति परखता है और इसी कारण जो सदा अपने आपमे तृप्त और प्रसन्न रहता है—ऐसा पुरुष सूझता है। आंखोंका अधा तो केवल आंखोंसे ही नहीं देख सकता है, पर और इन्द्रियोंसे तो जानता है। कर्णेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय और रसना इन्द्रिय उसके प्रवल हो सकते हैं। जो विषयों में अधा हो गया है वह तो किसी भी प्रकार सत्य बात, शुद्धमार्गको नहीं जान पाता है।

विषयान्धोंकी दशा— यह जगत् सब विषयोंका रोगी है। एक ओर से देख लो, ५ इन्द्रियां और छठा मन— इन ६ विषयोंका रोगी है। कोई पुरुष कामवासनासे अत्यन्त अधिक पीड़ित है। न्याय अन्याय हित अहित सब को तिलाञ्जलि देकर यह अशुद्ध आचारमें लगा करता है। इस कामांध पुरुष की कहीं इज्जत भी नहीं है। जो लोग जानते हैं कि अमुक पुरुष परस्त्री-सेवी है अथवा वेश्यागामी है उस पुरुषके प्रति किसीके हृदयमें कभी अनुराग जगता है क्या ? भले ही धनबल उसके पास हो और उसके कारण मुँह पर कुछ भले भले वचन बोलने पड़ते हों, किन्तु सभी के हृदयसे वह उतरा हुआ है। कामी पुरुषकी कोई कदर नहीं करता। बड़े-बड़े पुरुष ऐसे सुभट जो

दिग्गज हस्तियोंको और बड़ी सेनाको वशमें करनेका बल रखते हैं वे भी पुरुष स्त्रीके समक्ष अपने आपके बलको खो देते हैं और अन्तरसे याचनारूप अपना परिणमन करते हैं। कामके विषयका अंधा पुरुष बुरी तरहसे कुमौत से मरता है।

कामान्धकी दुर्दशा— एक घटना है, कोई अधिक पुरानी नहीं है। एक कान्सटेबिल किसी वेश्यामे आसक्त था। उसने अपना सारा धन धीरे-धीरे उस वेश्याको दे डाला। अब वह निर्धन हो गया। उसकी नौकरी भी छूट गयी तो वह वेश्याके घरके सामने एक पेड़के नीचे पड़ा रहता था। किसी ने पूछा कि तुम यहां क्यों पडे रहते हो ? तो वह बोला कि मेरे पास अब कुछ धन बल तो है नहीं। यह वेश्या मुझे घर भी नहीं आने देती, लेकिन यहां इसलिए पड़ा हूं कि यह ऊँचे नीचे उतरे तो इतने मे ही उसकी शकल दिख जाय। यह है कामांध पुरुषोंकी दुर्गति और यहां कहीं भी सर्वत्र देख लो। जो स्त्री अथवा पुरुप किसी प्रकार काममे रत होकर परपुरुप या परस्त्रीसे नेह लगा ले, उसके रात दिन शल्यमें ही व्यतीत होते है और भय शंका इन पीड़ावोंमें उसके दिन रात्र गुजरते हैं।

विषयान्धमें प्रभुदर्शनकी अपात्रता— विषयोंमे सुख क्या है ? कुछ नहीं। केवल कल्पनामात्र है, और कष्ट कितना भोगता है यह कामी पुरुष ? रात दिन चिन्ता, वेदना, शंका बनी रहती है। औरकी बात तो जाने दो, शस्त्रोंसे हथियारोंसे मृत्यु भी हो जाती है, यह विषयान्ध पुरुष कुछ भी हित अहितको नहीं देखता है। यदि किसी मानवमें विषयोंका अधपन न रहे, आत्मबल प्रखर रहे और हित अहितके विवेकमें सावधान रहे तो उसे प्रभु के दर्शन सुगमतासे हो सकते हैं, पर जो विषयरत पुरुप है वह प्रभुके दर्शन का पात्र नही है। उसे शान्ति और सतोष भी हो नहीं सकता है। यह विषयोंका अंधा ही वास्तविक अंधा है।

तुलसीदास कविकी वैराग्यकी घटना— तुलसीदास जी के चरित्रमें आया है कि वे गृहस्थीमे कामान्ध बनकर ससुरालमे स्त्रीसे मिलने के लिए चले रात्रिके समय। बीचमे पड़ती थी नदी। नदीसे उतरकर जानेका साधन कुछ न था। एक मुर्दा नदीमें बहता चला आ रहा था, उसको ही पकड़कर उसपर बैठकर कुछ हाथ पैर चलाकर उस तीर पहुंच गये। यो रात्रिके एक दो बज गये। उस महलमें जानेका कोई साधन न था तो एक सांप लटक रहा था भींतपर। उसे ही रस्सी जानकर वह ऊपर चढ़ गए, स्त्रीसे मिले। स्त्रीने पूछा कि तुम इतनी विकट रात्रिमे यहां कैसे आ गए ? हमें तो बड़ा आश्चर्य है, कुछ साधन भी न था ऊपर तक आनेका। तुलसीदास बोले कि

वहां जो रस्सी लटक रही है उसके सहारे यहां चढ़ आये। देखें तो सही, देखा तो साप था। और नदी आप कैसे तैर आये ? वहां एक काठ था जो नदी के किनारे रख दिया है उसको पकड़ कर हम चले आये। वहां जाकर देखा तो मुर्दा था। स्त्री कहती है कि 'जैसा हेतु हरामसे तैसा हरिसे होय। चले जावो वैकुण्ठमें पल्ला न पकडे कोय ॥' जितना नेह तुम्हें इस खोटे कार्यसे है उतना नेह यदि प्रभुसे होता तो तुम स्वर्गके पात्र होते। इतनी बात सुनकर और खासकर विषयोंके पीछे तिरस्काररूप वाणी सुनकर ऐसा वैराग्य जगा कि उसी समय कह दिया कि अब आजसे तुम मेरी मां हो और मुझे शिक्षा देने वाली गुरु हो। वहीं से ब्रह्मचर्यका नियमलेकर फिर वह साधनामें लग गये। प्रयोजन यह है कि कामका अंधा पुरुष इतने तक काम कर डालता है।

वास्तविक अंधा कौन ? जो विषयोंमें अधा हो। इस कामवासनासे, इसके प्रवर्तनसे शरीरका बल भी घटता है, आत्माका बल भी खो दिया जाता है, परकी आधीनता भी बन जाती है, नाना संकट भी सामने आते हैं, पर हाय रे मोहका नाच कि जिस जीवमें तू लग बैठा है उस जीवकी बरबादी ही कर देता है। कौन है अधा ? जो विषयोंमें अधा है।

रसनेन्द्रियके लोभकी दशा— भैया ! एक स्पर्शन इन्द्रियोंकी ही बात नहीं, सभी इन्द्रियविषयोंमें और मनकी कल्पनावोंमें विडम्बना ही विडम्बना भरी है। यह रसनाका लोभी कितने सुखके लिए परेशान है ? थोड़ी देरको, जितने क्षण तक जीभकी नोकका सम्बन्ध है, उतनी ही देर तो रसकी बात आती है। थोडेसे क्षणिक काल्पनिक सुखमें आसक्त होकर इसे कितना उपद्रव करना पड़ता है ? अब खूब कमावो और खूब श्रम करो, भोजनके आरम्भका भी श्रम करो और कितने ही झगडे कलह भी करलो, सारी बाते करनी होती हैं और फल क्या मिलता है ? लो दांतोंमें कीड़े पड़ गये, पेट में कीड़े हो गए, अफारा चढ गया, बुखार हो गया, यह उसका फल मिलता है। एक क्षण भरके काल्पनिक सुखके पीछे इतना हैरान होना पड़ता है मोही जीवको। यह अंधा है, इसे कुछ सूझ नहीं रहा है, अपने विवेकसे नहीं चल सकता। विरले ही पुरुष ऐसे होते हैं कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे खाते हों, नहीं तो केवल स्वादकी दृष्टिसे ही जब चाहे लोग खाते रहते हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टि से तो केवल दो बारका ही खाना काफी माना गया है। क्या जरूरत है तीन तीन घटेमें कभी चाय, कभी दूध, कभी फल, कभी पकौड़ी खानेकी। क्या ये स्वास्थ्य रखने के लिए खाये जा रहे हैं ? नहीं। केवल स्वादके लोभमें आकर खाये जा रहे है। जहा स्वादके लोभका उपयोग हो गया, वहां प्रभु-

दर्शनसे, धर्मपालनसे वह वंचित रह गया। क्या वह धर्मसाधना करे? खाने ही खाने की चिन्ता पड़ी हुई है।

प्राकरणिक शिक्षा— इन सब प्रसंगोंसे कुछ न कुछ शिक्षा लो और जीवनमें उतारते चलो तो कुछ समय बाद हितकी बात मिलेगी। स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें तो यह नियम करो कि मनसा वाचा कर्मणा किसी भी परस्त्री अथवा किसी भी परपुरुषकी ओर हृदयसे भी विकल्प न उत्पन्न हो, कुवासना न जगे, ऐसा संकल्प बनायें अन्यथा हैरान खुदको ही होना पडेगा। रसना इन्द्रियके विषयके सम्बन्धमे इतना पालन करें कि दो बार ही,खाना तीसरी बारकी क्या जरूरत? रात दिन खाने ही खाने की क्या जरूरत?

रात्रिभोजनके दोष— रात्रिमे अनेको कीड़े आते हैं। सूर्यका प्रकाश जब नहीं रहता है तो कितना भयकर समय रहता है, मानो चोरी-चोरी काम हो रहा हो। कुछ हृदय भी खानेकी गवाही नहीं देता है। हिंसा कितनी होती है? रसका लोभ भी कितना बढ़ गया है? सद्गृहस्थका कर्तव्य है रात्रिको न खाना और दिनमे भी केवल दो बार खाना, शेष समय षट्कार्यों मे लगायें—दया, परोपकार, समाजसेवा, खुदका ज्ञान बढ़ाना, आजीविका करना, जो जो कुछ गृहस्थीमें योग्य हैं उन कार्योंमें समय दीजिए। खानेमें ही अधिक समय बरबाद करना यह तो आत्माकी अवनतिका कारण है। रही एक बलकी बात। यह कोरा भ्रम है कि कई बार न खायें तो देहका बल न रहेगा। अरे एक बार केवल खा पीकर रहने वाला भी कठिनसे कठिन परिश्रम कर सकता है। दो बार खाना गृहस्थको पूर्ण बताया गया है। शास्त्रोंमें भी खानेके पूरे समय केवल दो ही नियत किए गए हैं। देहातोंमें तो अब भी आप दो बारका ही खाना पायेंगे। मुख्य बात तो यह है कि विषयोंके प्रति लोभ न रहेगा तो धर्मपालन का ज्यादा अवसर मिलेगा और भीतर तैयारी रहेगी।

घ्राणेन्द्रियविषयलोभकी दशा— तीसरा विषय है घ्राणेन्द्रियका। कितना व्यर्थका विषय है? अरे न सुगंधित तेल फुलेल लगाये तो कौनसी शरीरकी घटती होती है, पर शौक है इसलिए कोटके कालरमें, जेबोंमें इत्र लगाना, कानमें इत्रका फुवा रखते हैं। अरे इन सब चीजोंसे न आत्माको लाभ है, न देहको लाभ है। हां सुगमतासे मिल जाय, थोड़ा सेवन करले, पर उसमें ही व्यसन बना लेना, उसमें ही अपना समय गुजार देना, यह तो लाभकी बात नहीं है। गृहस्थके लाभके काम केवल तीन है—धर्म करना, धन कमाना और नीति, न्यायपूर्वक परिवारका, समाजका, देशका पालन पोषण करना। इसकी तो जो विषयमे आशक्ति है वह सब वाहियात

काम है।

चक्षुरिन्द्रियविषयलोभकी दशा— चक्षुरिन्द्रियके विषयमें आसक्त होकर पतंगे भी प्राण गवा देते हैं और फिर मिलता क्या है? किसी रूप की ओर टकटकी लगाकर निरखने से मिलेगा क्या? उपयोग बुरा किया, आंखोंकी शक्ति घटाई और धर्मसे च्युत हुए, पराधीनता भी बनायी, तत्त्व क्या निकला? यह भी अंधा पुरुष है। आंखोंसे रूपको देखनेका लोभ करने वाला पुरुष अंधा है, उसे सूझना न कहेंगे।

कर्णेन्द्रियविषयलोभकी दशा— यों ही कर्ण इन्द्रियका राग है। बहुत बड़ी रागरागनी सुरीले शब्दोंको सुनकर ही अपने को मस्त कर लेना, यह कर्णइन्द्रियका राग है। भजन भी सुने तो उसमें धर्मकी बात पर प्रधानदृष्टि न हो, किन्तु तान राग स्वर पर ही उसकी दृष्टि हो तो वह कर्णइन्द्रियका विषय ही तो है। उस विषयसे भी इस जीवको लाभ क्या मिला?

मनोविषयका दुःखद विस्तार— मनका विषय तो बड़ा ही विकट है। यह जीव मनकी स्वच्छन्दताके कारण कितना पराधीन बन रहा है? यह सारा जगत यह संज्ञी मानव यह चाह करता है कि दुनियामें मेरी कीर्ति हो, यश हो, नाम बढ़े, धन बढ़े, चाहे भाषण देकर बढ़े, चाहे किसी प्रकारकी नेतागिरी करके नाम बढे, सब जीवोंके पास अपने नाम यशकीर्तिकी ही धुन लगी है। अरे जहां तुम नाम चाहते हो वह तो सब मायारूप है, असार है। तुम किसमें अपना नाम चाहते हो? नाम चाहनेकी बात हुई कि बाह्य दृष्टि हुई, वहां धर्म रहता नहीं है। धर्मकी बात सुनाकर भी यदि यह बात मनमें है कि लोग जानें कि यह कितने अच्छे ढंगका भाषण करता है, चर्चा करता है, भजन बोलता है, ये लोग समझ जायें ऐसी दृष्टि है तो वहां धर्म का काम कुछ भी नहीं किया, केवल विषयोंके पोषणका ही काम किया है।

मनोविषयके पोषणका श्रम व परिणाम— मनका विषय भी बड़ा कठिन विषय होता है। बनारसमें एक पंडित जी थे। सभी शास्त्रोंके बडे ज्ञाता, जिनके सैंकड़ों शिष्य पंडित हो गए। फिर भी वे रात दिन ग्रन्थोंको देखते ही रहते थे। लोगोंने कहा पंडित जी तुम इतने वृद्ध हो गए हो, इतने तुम्हारे शिष्य हैं, पर अब भी तुम रातदिन पढते रहते हो। क्यों इतना कष्ट करते हो? तो पंडित जी बोले कि बेटा! किसीने हमसे शास्त्रार्थ कर दिया और हम हार गये तो फिर कुवेंमें गिरकर ही मरना पड़ेगा। सो शास्त्रार्थमे हार न खानी पडे इसलिए पढते रहते हैं। आखिर किसी युवकसे शास्त्रार्थ में हार गए और कुवेंमें गिरकर मर गए। तो मनका विषय भी इस जीवको अधा बना देता है।

कठिन-विषय होता है। बनारसमें एक पंडित जी थे। सभी शास्त्रोंके बड़े ज्ञाता, जिनके सैकड़ों शिष्य पंडित हो गए। फिर भी वे रात दिन ग्रन्थोंको देखते ही रहते थे। लोगोंने कहा पंडित जी तुम इतने वृद्ध हो गए हो, इतने तुम्हारे शिष्य हैं, पर अब भी तुम रात दिन पढ़ते रहते हो। क्यों इतना कष्ट करते हो? तो पंडित जी बोले - कि बेटा! किसी ने हमसे शास्त्रार्थ कर दिया और हम हार गये - तो फिर कुवेंमे गिरकर ही मरना पड़ेगा। सो शास्त्रार्थमे हार न खानी पड़े इसलिए पढ़ते रहते हैं। आखिर किसी युवकसे शास्त्रार्थमें हार गए और कुवेंमे गिरकर मर गए। तो मनका विषय भी इस जीवको अंधा बना देता है।

मनके हठकी विडम्बना— किसी कस्बेमें एक स्त्रीने यह हठ पकड़ ली कि मुझे २५ तोले भर सोने के बखौरे भुजावोंमें पहिननेके बनवाये जाना ही चाहिए। खैर, किसी तरहसे पतिने कर्ज लेकर २५ तोलेके बखौरे बनवा दिये। तब कस्बेमें मोटी धोती पहिननेका रिवाज था, पूरे अंगको धोतीसे ढककर वह चले तो किसीने भी यह न कहा कि ये बखौरे अच्छे बने हैं। अब वह मन ही मन बड़ा क्रोध करे। हाय! इतनी हठ करके गहने बनवाये और किसी ने न कहा कि ये बड़े अच्छे हैं। जितने भी सजावटके पोशाक पहिने जाते हैं उनमें भी मनमें यही भाव तो रहता है कि लोग समझें कि यह बड़े आनन्द सज धज कर रहते हैं। अरे जो बड़े पुरुष हैं, महात्माजन हैं या जो नेता लोग हैं उन सबकी शकलको देख लो, किसी ने सजावट शृङ्गार नहीं किया। उन्हें फुरसत कहा है कि सजावट शृङ्गार करें। तो उस स्त्रीको जब किसीने न पूछा तो उसको गुस्सा आ गया, सो उसने अपनी कुटीमें आग लगा दी। जब कुटी जलने लगी तब अक्ल आयी। बाहर निकलकर चिल्लाने लगी—अरे, दौड़ो मै मर गयी, घर जल गया। यह कुवां है, यह रस्सी बाल्टी है, आग बुझावो। हाथ निकाल-निकालकर कहना पड़ा सो धोती कंधेसे हट गयी। एक स्त्रीने देख लिया और बोली जीजी ये बखौरे कब बनवाये थे? ये तो बड़े सुन्दर हैं। तो वह झुंझलाकर कहती है; अरी राड़, पहिलेसे ही इतनी बात कह देती तो घरमें आग काहेको लगानी पड़ती? ऐसी हठ लगी है। हठमें केवल नुकसान ही है, लाभ कुछ नहीं है। तो इस मनके विषय में भी यह जीव कितना परेशान है?

वास्तविक अंधा— अंधा कौन है लोकमें? जो विषयोंमें अंधा है, वही वास्तवमें अंधा है। चाहे आँखोंका भी अंधा हो, पर ज्ञान और वैराग्य बना हुआ है तो उसे वास्तविक अंधा नहीं कहा जा सकता। वह अंतरङ्गमें प्रसन्न रहता है, परेशान नहीं है और विषयोंके अंधे परेशान रहते हैं। जो चक्षुष्मान

दुःखी होवे, जिसे मार्ग न सूझे वही तो अंधा है।

इन्द्रियविषयमें प्राणघातके उदाहरण— देखो इन पांचइन्द्रियोंमेंसे एक-एक इन्द्रियके विषयके लोभमें आकर विषयोंके लोभमें जीव प्राण गंवा देते हैं। काममें अंधा होकर हाथी जगलमें पकड़ा जाता है। हाथी पकड़ने का और कोई आसान तरीका नहीं है। केवल हाथीके पकड़नेका तरीका यही है कि एक बहुत बड़ा गड्ढा बनाकर उस पर पर्चे बिछा देते हैं, एक झूठी हथिनी उस पर बनाते हैं, स्पर्शन इन्द्रियके वशीभूत होकर हाथी आता है और गड्ढेमें गिर जाता है। रसना इन्द्रियके वशमें आकर मछली अपना कंठ फंसा लेती है, घ्राण इन्द्रियके वशमें आकर भंवरा भी कमलके कोमल पत्तोंमें छिपकर अपने प्राण गँवा देता है। चक्षुरिन्द्रियके लोभमें पतगे दीप पर पड़कर जल जाते हैं, कर्णइन्द्रियके लोभमें आकर ये सांप और हिरण पकड़ लिए जाते हैं। ये जीव एक-एक इन्द्रियके वशमें होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। तो जरा इस मनुष्य जीवनपर दृष्टि डालो। क्या यह किसी एक विषयका लोभी है? यह छहों विषयोंका लोभी है। तो इस मनुष्यकी क्या स्थिति है?

विषयविरति व निजरतिका कर्तव्य— भैया! इतना उत्कृष्ट यह मनुष्य-देह पाया और अब विषयोंमें ही अंधे बने रहें, तो जैसे जो जितने ऊँचे चढ़कर गिरता है उसको उतनी ही अधिक चोट लगती है, इसी तरह बड़ी ऊँची मनुष्यदेहकी स्थितिमें आकर यदि यह जीव गिर गया तो बहुत नीची दुर्गतियोंमें जायगा। हम सबका कर्तव्य है कि विषयोंसे मुख मोड़ें, ज्ञान और दर्शनमें बढ़ें, इस धन वैभवको महत्त्व न दें, किन्तु आत्मज्ञान और सदाचार इनको महत्त्व दें, ज्ञान और चारित्रका पालन करके अपने जीवनको सफल करें।

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥

विषयोके चाहकी व्यर्थता— इस लोकमें प्रत्येक प्राणीके हृदयमे आशा रूपी गड्ढा इतना बड़ा बना हुआ है कि जिसमें यह सारा विश्व भी आ जाय तो भी वह अणुकी तरह मालूम होगा। जगत्में वैभव तो उतना ही है जितना है और प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें आशाका गड्ढा इतना बड़ा है कि सारा विश्व भी इस गड्ढेमें समा जाय तो भी वह अणुकी तरह होगा। अब बतलावो जिसका सारा विश्व चाहने वाला है, किस-किसके पास यह विश्व आये? इन विषयोंकी चाह करना बिलकुल व्यर्थ है।

ससारियोंका सज्ञावोंसे पीड़ितपना— अनादि कालसे इस ससारमें

रुलते-रुलते यह मनुष्यजन्म पाया है। इसका यह अनन्त काल आहार, भय मैथुन और परिग्रह-इन चार संज्ञावोंमे व्यतीत हुआ है। पेड़ हुए वहां भी ये चार सज्ञाएँ हैं। मिट्टी जलका लेप्याहारसे आहार ग्रहण किया। भय भी उनमें अतः पड़ा हुआ है। उनके भय व्यक्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है। न हाथ पैर हैं, न कुछ हिला सकते हैं, हवा चले तो हिले, पर कोई काटे छेदे तो भयके कारण वह कुछ इशारा कर सके, ऐसी सामर्थ्य नहीं है, लेकिन भयशील वह भी है। मैथुन कामवासना उन एकेन्द्रिय तकमे भी पड़ी हुई है। यद्यपि उस मैथुनकी व्यक्तिका कोई वहा साधन नहीं है, केवल शरीर ही शरीर है, कोई अङ्गोपांग भी नहीं है, पर कर्मोंकी प्रेरणा कैसी विचित्र है कि यह वासना उन एकेन्द्रिय तकके भी समायी हुई है। परिग्रहसंज्ञा उनकी जड़ोंकी करतूतसे विदित होती है। ये चारों सज्ञायें एकेन्द्रिय से लेकर, चतुरिन्द्रिय तक तो सबके हैं ही, अकपाय साधुवोंको छोड़कर सब पञ्चेन्द्रियोंमे भी हैं। परिग्रहसंज्ञा तो यहां सभी जीवोंमें पड़ी हुई है किसीके पास कितना भी परिग्रह आ जाय, पर उससे अधिककी जो तृष्णा लगी हुई है उस तृष्णाके कारण वर्तमानमे पाये हुए परिग्रहका भी आराम नहीं भोगा जा सकता है। यों परिग्रहसंज्ञा भी इस जीवमें अनादिसे वासित चली आयी है। कठिनाई से आज यह नरजन्म पाया, इसमें भी अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानकी ओर चेष्टा न करें और बाहरी वाहवाहीमें और विषयोंकी साधनामे अपने उपयोग को लगा दें तो बतावो वहां लाभ क्या पाया? ऐसा उत्कृष्ट भव भी इन विषयवासनावोंमें गँवा दिया तो क्या लाभ पाया?

मोहकी विडम्बना— अहो! संसारके सभी जीव अपनसे अत्यन्त भिन्न हैं और स्वरूपदृष्टिसे सभी जीव अपने समान हैं, पर मोहका प्रताप तो देखो कि घरके दो चार जीवोंको तो सब कुछ मान लिया और गैर जीवों मे चेतना भी है इतना तक भी सोचनेकी फुरसत नहीं होती है। यह है मोह का विकट नृत्य। प्रत्येक प्राणीमे आशाका गड्ढा इतना बड़ा है कि सारे विश्वकी सम्पदा भी आये तो भी वह परमाणुकी तरह एक ओर पड़ी रहती है। और हैरानी इस बातकी है कि जमीनके गड्ढे तो कूड़ा कचरासे भरकर पूरा किया जा सकता है, किन्तु यह आशारूपी गड्ढा ऐसा विचित्र है कि जितना कूड़ा बढ़ता जायगा उतना ही यह गड्ढा बढ़ता जायगा। वाह रे विचित्र गड्ढे! इन मोहियोंका यह ऐसा भावात्मक गड्ढा है कि जैसे-जैसे सम्पदा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे यह चौड़ा होता जाता है। अहो! यह आशारूपी गड्ढा सभी प्राणियोंमें पड़ा हुआ है। इसमे तीन लोककी विभूति भी अणुकी तरह एक ओर सूक्ष्म पड़ी हुई दीखती है।

तृष्णाकी दौड़— भैया ! यह मनुष्य ही जीर्ण होता जाता है, पर तृष्णा जीर्ण नहीं होती। यह मनुष्य ही तृष्णासे थक जाता है पर मनुष्यकी तृष्णा नहीं थकती है। तृष्णा एक व्यर्थका परिणाम है। हा, गृहस्थीमें जरूरत होती है सम्पदाकी, उसके बिना काम नहीं चलता, पर तृष्णा किये बिना तो काम चल सकता है। सम्पदा बिना न चलेगा गृहस्थीका काम, पर तृष्णा बिना तो चल सकता है। ज्ञानी गृहस्थमें इतना साहस होता है कि आज जो कुछ भी समागम मिला है, वैभव मिला है इसका १०० वां हिस्सा भी कदाचित् रहता तब भी इस ज्ञानानन्दघन आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं है, ऐसा साहस बना है। अरे इन मोही जनोंसे जो स्वय मायास्वरूप हैं इनमें क्या चाहकी जाय ? कुछ प्रशंसाके शब्द सुन लिये तो इतने से कौन सा काम निकलेगा ? जो आज धनकी होड़, परिजनकी होड़, यशकी होड़ लगायी जा रही है यह व्यर्थका ही काम है। अरे ये सभी मायामय चीजें हैं मिटने वाली हैं. कुछ भी यहा सदा न रहेगा। किसकी आशा लगाते हो, किसकी तृष्णा करते हो, विराम लो, आत्मविश्राम पाओ।

विनश्वरता— एक सेठ था। उसने एक बड़ी ऊँची हवेली बनवाई और उसका उद्घाटन करनेके लिए नगरवासियोंको आमंत्रित किया। सभी लोग जुड़ आये। सेठने कहा— अरे भाइयो ! इस हवेलीमें कोई भी त्रुटि हो तो बतावो, चाहे सारी हवेली गिरवानी पडे, पर इसको अभी ठीक करवाऊँगा। सबने कहा— महाराज इसमे कोई त्रुटि नहीं है। एक व्यक्ति उठकर बोला— महाराज इसमें दो त्रुटिया हैं। सेठने पास बैठे हुए इजीनियरको आदेश दिया कि तुम इसकी बात सुनो और जो भी त्रुटि रह गयी हो उसको सुधार लो तो वह पुरुष बोला— महाराज इसमें एक त्रुटि तो यह है कि यह मकान सदा न रहेगा। ओह। इतनी बात सुनकर सेठके छक्के छूट गए। इजीनियर भी क्या करें। कहा—अच्छा भाई दूसरी त्रुटि बतावो। तो कहा— महाराज दूसरी त्रुटि यह है कि इस मकानका बनवाने वाला भी सदा न रहेगा। ओह ! इस त्रुटिको कौन मिटा सकता है ? तो एक मकान की ही बात नहीं है, सभी की यही दशा है। जो कुछ भी व्यापार होता है, वचन व्यवहार होता है, अनुराग बढाय जाता है, रिश्तेदारी बढती है, वह सब इसीमें शामिल है। न ये सब सदा रहेंगे और न यह मानने वाला भी सदा रहेगा।

विषयोंकी अनर्थता व व्यर्थता— अहो, क्यों विनश्वरकी ओर झुक कर अविनश्वरको बरबाद कर रहे हो ? अपने आपमें गुप्त होकर अपने आपके स्वरूपका मनन तो करो। यह सारी सपदा गिनी चुनी है। इनकी

आशा करने वाले, अर्थात् वैभव समृद्ध होनेकी धुन रखने वाले अनेक लोग हैं। किस किसके अन्तरकी बात कही जाय, इस कारण किसी भी विषयकी अभिलाषा करना व्यर्थ है। पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगकी बात निरखो तो किसी भी विषयका अंतिमफल अच्छा नहीं निकलता। स्पर्शन इन्द्रियका विषय, कामवासना विषयक वाञ्छा बाधा, इनका भी अंतिम फल अच्छा नहीं निकलता। खाने पीनेकी धुन बनाना, रसीले भोजन करना इनसे भी आखिर अन्तमें जीवको क्या लाभ पहुंचता है? सभी विषयोंकी वासना अनर्थ ही करने वाली है। जितने भी जो कुछ दृश्यमान् पदार्थ हैं वे ही स्वयं यथार्थ नहीं हैं। अनेक पुद्गल परमाणुवों का ढेर हैं, उनके बन्धनसे आज ये इस शकलमें स्कध दिख रहे हैं। आज हैं कल न रहेंगे।

मायारूपता— भैया! यह शरीर भी जो हम आपने पाया है यह भी अनेक परमाणुवों का पुञ्ज है। जाने आने वाले परमाणुवोंका ढेर है। यह भी बिखर जायगा, न रहेगा। यह संसारी आत्मा कल्पनामें पड़ा हुआ बना रहता है। आज इस मनुष्यभवमें हैं इस कारण ऐसी कल्पना करते हैं, यह देह छोड़कर यदि हाथी घोड़ा आदिके पर्यायमें पहुंचे तो हाथी घोड़ा जैसी कल्पनाएँ कर ली जाती हैं। जैसा भव मिलेगा वैसी कल्पना उनमें होगी। यह जगम जगत् भी सब असार है और मायारूप है। किसी भी पदार्थको देखकर मोहित होना बिल्कुल मूढ़ता है। अरे व्यर्थ क्यों रातदिन बाह्यदृष्टि ही लिए रहते हो? अपने आपपर कुछ दया करके ५ मिनट भी तो अपने उपयोगको आत्मचिन्तनमें लगाना चाहिए। जितने मिनट अपने आत्माके स्वरूपकी सुध रक्खी जायगी उतने मिनट तो आपके सफल हैं और जितना समय केवल बाहरी चीजोंमें ही उपयोग लगानेमें व्यतीत होगा उतना समय बेकार है।

मूर्च्छाका फल— यह आत्मा तो स्वतंत्र एकाकी है। न यह कुछ साथ लाया है और न कुछ साथ ले जायगा। यह तो केवल भावनामात्र है। इसका स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है। विकार अवस्थामें यह ज्ञान और आनन्द का विकार परिणमन करता है और शुद्ध अवस्थामें ज्ञान और आनन्दका विशुद्ध परिणमन करता है, पर ज्ञान और आनन्दस्वरूपको तजकर इसमें और कुछ नहीं बसा हुआ है। न इस आत्मामें रूप है जो आंखोंसे देख लिया जाय, न रस है जो जिह्वासे चख लिया जाय, न आत्मामें गंध है जो नाकसे सूँघ लिया जाय, न शब्द है जो कानोंसे सुन लिया जाय। यह आत्मा छुवा भी नहीं जा सकता। और वस्तुतः तो इसे अग्नि जला भी नहीं सकती, पर विश्वास नहीं है, इस देहको ही आत्मा माना है। इस कारण

ऐसी प्रतीति होती है कि मैं अमुक रंगका हूं, इतना लम्बा चौड़ा हूं। नाना प्रकारकी प्रतीति इस देहके रंग ढगको देखकर अपने आत्मामें बनाली जाती है। यह मैं आत्मा सर्वकलंकोंसे मुक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। करना क्या है जीवनमें सोचते जाइए। मान लो एक धन कमाने की धुन है तो हजार आयें, लाख आयें, करोड़ आयें, इसके साथ-साथ वृद्ध भी तो होंगे। सोचते जाइए, फिर क्या होगा? जीर्ण हो गए, फिर क्या होगा? जब शारीरिकबल नहीं रहता है तब और प्रकारकी चिन्ताएँ होने लगती हैं। अन्तमें क्या होगा, इस देहको भी छोड़कर जाना होगा। अपने जीवनमें जो भी पुण्य अथवा पापके कार्य किये हैं उनका फल भोगना होगा।

परिणामविशुद्धिकी सावधानीकी आवश्यकता— भैया! अपनेको सावधान रहनेकी जरूरत है कि इस जीवनमें मेरेसे अन्यायका कोई कार्य न हो। कदाचित् अन्याय किया जानेसे कुछ द्रव्य सामने आते भी हों तो भी वे विष हैं, प्राणहारी हैं। अन्यायसे प्राप्त किए हुए धनसे इस जीवकी बरबादी ही है और प्रथम तो यह बात है कि अन्याय करनेसे धन न मिलेगा किन्तु हमारे पुण्यका उदय ही था, मिलना ही था, सो हम न्यायरूप रहते तो मिलता, न रहते न्यायरूप तो मिलता, पर न्यायरूप रहते तो कुछ अधिक भी मिलता। अन्यायरूप रहनेसे तो पुण्यरस कम हुआ, पापका बल विशेष बन गया और कहो समृद्धि उससे भी कम मिले। अन्याय करना कभी भला नहीं होता है।

देवपूजामें धर्मपालन— आचार्य महाराजने गृहस्थोंके लिए जो ६ कर्म बताये हैं, उन ६ कामोंमें श्रावकके कल्याण योग्य सभी तत्त्वोंकी पूर्ति हो जाती है। प्रभुका पूजन, गुणस्मरण करना, अपने विषयकषायोंका हटाना और श्रद्धापूर्वक वीतराग निर्दोष सर्वज्ञ ज्ञानानन्दपुञ्ज प्रभुमें उपयोग लगाना। देखिये इसमें कितना चमत्कार भरा है? अरे जो मोह रागद्वेषका बोझ रातदिन लदा रहता था, उस बोझको कम करके यह गृहस्थ प्रभुभक्तिमें लीन हो रहा है। इस आनन्दको और घर पर रागभरी गप्पें करते हुएके आनन्दको देखो, इन दोनों स्थितियोंमें कितना अन्तर है? प्रभुभक्तिमें विशुद्ध आनन्द जगा है, रागद्वेष विषयसाधन आदि अनेक कलुषतावोंसे रहित केवल आत्माके नातेसे आनन्द जगा है और घर पर विषयवासनावों में उपयोग रखकर जो मौज माना जा रहा है वह रीता मौज है, वह परिपूर्ण मौज नहीं है, तृष्णा और आकुलतासे भरा हुआ मौज है।

गुरुसेवामें धर्मपालन— गुरुसेवा यह भी एक अलौकिक पुरुषार्थ है। अनादि कालसे अज्ञान अन्धकारमें अन्धे हुए प्राणियोंको ये गुरुजन ज्ञान-

अञ्जनकी सलाईसे भीतरकी आंखोंको खोल देते हैं। जिस पुरुषको यथार्थ-स्वरूप नहीं सूझता है, हित अहितका यथार्थ निर्णय नहीं जगता है वह पुरुष प्रसन्न नहीं रह सकता, उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इन जड़ पदार्थोंमें दिल रखे रहनेसे, उपयोग बसाये रहनेसे कौनसी शान्ति मिलती है ? न कभी शान्ति मिली और न कभी मिलेगी। यह त्रिकाल ध्रुव सत्य है। यदि सम्पदा के परिग्रहणमें शान्ति और संतोष मिलता तो बडे-बडे तीर्थंकर चक्रवर्तादिक समस्त वैभवको त्यागकर क्यों आकिञ्चन्यभावमें रत हुए थे ? परपदार्थोंके उपयोगमें आत्माको मोक्षका मार्ग नहीं मिलता है। अरे जो चीज मिट जायगी, विश्वर है उसका उपयोग कहां लाभ दे सकता है ?

ज्ञानवैभवका महत्त्व— अहो ! आनन्दका निधान स्वयंका परमात्मा भगवान् स्वयंके अन्तरमें तो विराजा है और उसे देखनेकी सुध नहीं की जा रही है, बाह्यविषयोंमें ही आसक्ति दौड़ रही है, ऐसे जीवनसे जीवको कुछ लाभ नहीं है। अपना सर्वस्व भी यदि न्यौछावर हो जाय, जो कुछ भी जड़ विनश्वर वस्तु पायी है, और यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाय तो उसने सब कुछ पाया। ये धन कन कंचन राज सुख सम्पदा ये सब सुलभ हैं, किन्तु यह आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ बोध करले, यथार्थ श्रद्धान् करले और इसही रत्नत्रयके वशमें लीन हो सके—ऐसी परिस्थिति होना बहुत दुर्लभ चीज है। कल्पना करो कि जो वैभव पाया है उससे भी करोड़ गुना वैभव पूर्वजन्मोंमें भी पाया था। अब उसके पानेका यहां क्या प्रसंग और सम्बन्ध है, उससे कुछ लाभ है क्या ? करोड़ गुना पाया और छोड़ना पड़ा, उसके सम्मुख तो आजका पाया हुआ कुछ भी नहीं है और जो कुछ भी है यह भी चन्द दिनोंके बाद छोड़कर जाना होगा।

अस्थिर निवास— एक साधु महाराज एक नगरमें से निकले। एक बड़ी हवेली देखकर हवेलीके द्वार पर खड़े हुए चपरासीसे पूछते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है ? चपरासी बोला— महाराज ! धर्मशाला तो आगे है, थोड़ी दूर है, वहां पर ठहरियेगा। यह धर्मशाला नहीं है। तो साधु बोला कि मैं ठहरना नहीं चाहता, मैं तो यह जानना चाहता हू कि यह धर्मशाला किसकी है। वह बारबार मना करे कि यह धर्मशाला नहीं है आगे जाइए। वह पूछता जाय कि बतावो यह धर्मशाला किसकी है ? जिस सेठका मकान था उसने साधुको बुलाया और कहा, महाराज हुकुम हो, यह धर्मशाला तो नहीं है पर आप शौकसे ठहरें। धर्मशाला तो आगे है, यह तो अपना मकान है। साधुने पूछा कि इसे किसने बनवाया था ? सेठ बोला कि मेरे दादाने बनवाना शुरू किया था। फिर वह कितने दिन इसमे रहे ? वह तो पूरा

बनवा भी न सके थे कि गुजर गए। फिर किसने बनवाया ? फिर मेरे पिता ने बनवाया था। वह बनवाकर कितने दिन रहे ? सेठने कहा—महाराज वह तो मुश्किलसे ४ वर्ष ही रहे थे और तू इसमें कितने दिन रहेगा ? बस सेठकी आंखें खुलीं। साधुके चरणोंमें गिरकर सेठ बोला— महाराज, हम आपकी बातका राज न जान रहे थे।

धर्मकी सर्वदा आवश्यकता— अरे यहां का पाया हुआ वैभव किसी के साथ न रहेगा। केवल भाव विशुद्ध बनालो। भावों तक ही हम श्रावक कर्तव्य है। भावोंकी निर्मलतासे ऐसा सातिशय पुण्य बंध होता है कि यह तो चीज क्या है ? क्या किसीके हाथ पैर धन कमाया करते हैं ? यह तो उदयाधीन बात है। सेठों जैसे ही हाथ पैर अनेकोंके हैं, पर किसीके लक्ष्मी आती है, किसीके नहीं आती है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण है पहिलेका किया हुआ धर्म। अब वर्तमानमें हम धर्मकी ओर न लगे तो वह ढला चला कब तक चलेगा ? कर्तव्य है यह कि चाहे कोई सुखी हो, चाहे दुःखी हो, धर्म तो सदैव करना चाहिए। सुखी होगा तो धर्मके प्रसादसे उसके सुख बढ़ेगा, दुःखी होगा तो धर्मके प्रसादसे उसका दुःख दूर होगा। धर्म तो सदैव करनेकी चीज है। धर्म हाथ पैर चलानेका ही नाम नहीं, किन्तु परद्रव्योंसे मोह हटना धर्म है। परद्रव्यके मायने एक आत्मस्वरूपके सिवाय जितने भी पदार्थ हैं, चाहे लोकमें अपने माने जाते हों, वे सब परद्रव्य हैं। भीतरमें ऐसा ज्ञानप्रकाश हो कि ये सभी परपदार्थ हैं, इनसे मैं न्यारा हूं, ज्ञानानन्दमात्र हूं। उस विविक्त स्वरूपमें ही मस्त रहना, उसके उपयोगमें ही मग्न रहना, यही है ठीक धर्मका पालन। इस ही धर्मपालनमें झुकनेके लिए हमारे ६ आवश्यक कार्य हैं। गुरूपास्तिसे, गुरुसेवासे हमारा श्रद्धान भी निर्मल बनता है और चारित्र भी निर्मल बनता है, ज्ञानका भी विकास होता है।

स्वाध्याय, संयम, तप व दानमें धर्मपालन— स्वाध्यायसे मेरा कल्याण कैसे हो, इस भावनाको रखकर जो ग्रन्थका स्वाध्याय किया जाय वह आत्मा में प्रकाश लाता है और अनेक आकुलतावोंको दूर कर देता है। प्रयोग करके देखलो। आप किसी कष्टमें हों और रामचरित्र या अन्य पुराण पुरुषोंके चरित्र भी लेकर बैठ जावो तो आपकी आकुलता कम हो जायगी। संयम, तप और दान। ये तीन कर्तव्य भी गृहस्थके प्रतिदिनके काम हैं। जरूरी तो छहों काम हैं, इन्हें प्रतिदिन करना चाहिये। संयमसे चारित्रकी वृद्धि, तपसे चारित्रकी वृद्धि और दानसे श्रद्धाकी वृद्धि प्रधानतासे है। यों श्रावकके ६ कर्तव्योंमें धर्मका पालन भरा हुआ है। जितनी ही मोह ममता दूर हो,

समझो हम उतना ही धर्मपालन कर रहे हैं। अपने भीतरमें परखकर यह निर्णय करना चाहिए कि मेरे मोह ममता कम हुई या नहीं। यदि मोहममता कुछ कम हुई तो उसका संतोष कीजिए। न कम हो मोह ममता तो ज्ञान-भावना करके उसके कम करने का यत्न करना चाहिए।

आयु श्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितम्।
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि॥
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमाः।
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम्॥३७॥

पूर्वोपार्जितकर्मफल— इस जीवको इस भवमें जो उत्तम समागम मिला है, दीर्घआयु लक्ष्मी सम्पदाका समागम, सुन्दर शरीर आदिक जो कुछ मिला है वह सब पूर्व कमाया हुआ पुण्यका फल है। जिसके पूर्व अर्जित पुण्य है उसको ये सब समागम मिलते हैं और जिसके पूर्व अर्जित पुण्य नहीं है वह कितना भी श्रम कर डाले तो भी उसे ये समागम प्राप्त नहीं होते हैं। जहां विशुद्ध भाव है, मंद कषाय है वहां पुण्य अर्जित होता है। जहां संक्लेश परिणाम है, अज्ञानमय अवस्था है वहां पापकर्म अर्जित होते हैं किसी भी परपदार्थमें, सम्पदा वैभवमें, परिजन मित्रमें यह मेरा है, इससे मेरा बड़प्पन है, इस प्रकारकी आसक्तिका जो भाव है वह ही मूलमें पाप है। जब अज्ञानबुद्धि रहती है, अपने आपकी भिन्नताका परिचय नहीं रहता है, तब फिर इस परिग्रहके बढानेके लिए, अपने विषयसाधनोंका पोषण करनेके लिए यह जीव फिर अन्यायके भी काम करने लगता है। सब पापोंका, अन्यायों का मूल है स्वपर विवेकका अभाव।

ज्ञानमें भ्रष्टाचार निरोधकता— आज देशमें सब जगहसे यह आवाज आ रही है कि देशमें अन्याय बहुत है, भ्रष्टाचारकी अधिकता हो गयी है, सारी प्रजा दुःखी है और भ्रष्टाचारके निरोधके लिए कुछ व्यक्ति भी नियुक्त किये जाते हैं, पर जो भ्रष्टाचारके निरोधके लिए नियुक्त होते हैं वे भी भ्रष्टाचार करने लगते हैं। कोई उपाय है ऐसा कि लोकमें फैलता हुआ भ्रष्टाचार समाप्त हो जाय? उपाय एक सम्यकपरिज्ञान है। जब जनतामें अधिकांशरूपसे यह भावना बन जाय कि यह मैं जीव केवल अपने स्वरूप मात्र हूं, अकेला ही जन्मा हूं, अकेला ही मरना होगा, अकेला ही सुख दुःख का भोगी हूं। जो कुछ बीतती है मुझमें वह सब अकेलेपर होती है। इस मेरेका मेरे सिवाय और कोई साथी नहीं है। यह दुनियाका समागम चंद दिनोंका है, अन्तमें बिछुडेगा। इन असार बिछुड़ने वाले वैभवोंके पीछे अन्याय करके अपना धर्म बिगाड़ना, अपनी दुर्दशा करना यह उचित नहीं

है। इतनी बात जब तक दिलमें न समायेगी तब तक यह भ्रष्टाचार बंद न हो सकेगा।

कर्मफलकी भाविता—भ्रष्टाचार केवल रिश्वत लेने आदिका ही नाम नहीं है। कौन नहीं जानता है कि यह अन्याय किया जा रहा है? अन्याय की बात छुपे-छुपे की जाती है। कोई रिश्वत लेता है तो खुलकर नहीं लेता। यदि दो चार लोगोंके बीच भी लेता है तो वह खुला हुआ रूप नहीं है। उन सबमें ढका हुआ रूप है। अन्यायकी प्रवृत्ति खुले रूपमें नहीं होती है। उसमें न्यायका सचाईका बाना सामने रखना पड़ता है। धर्मकी ओट करके ही अधर्मका विस्तार लोगोंके द्वारा किया जाता है। ये सब पापकार्य हैं और इन सब पापकार्योंके करते हुए भले ही पूर्व पुण्यके प्रसादसे आज कुछ स्थिति ठीक हो तो भी वे सब पापके परिणाम अवश्य आगे फलेंगे। किये हुए सुकृत अथवा दुष्कृत यों ही निष्फल नहीं चले जाते।

घात व असत्य पापमें हिंसारूपता— पाप तो वास्तवमें हिंसाका नाम है, पुण्य अथवा धर्म अहिंसाका नाम है। जो लोकमें पाप कहे गए हैं वे सब हिंसारूप हैं और जितने धर्म बताये गए वे सब अहिंसाके रूप ही किसी न किसी कक्षमें हैं। जैसे किसी का दिल दुखाना वह तो प्रकट हिंसा है। किसीका प्राण हरना अथवा किसीको मारना, विचारना यह भी प्रकट हिंसा है। पर झूठ चोरी आदिकके कर्म भी वास्तवमें हिंसा ही हैं। जो अपने आप के ज्ञान दर्शन प्राणोंका घात करे, अपना विवेक सब खो दे, अधा बनादे, सही मार्ग न सूझे वह सब हिंसा ही तो है।

किसी पुरुषके बारेमें झूठ बोल दिया, यह अपने आपमें सक्लेश और अशुभ भाव बनाये बिना नहीं होता। दूसरेके झूठ बोलनेसे जान जाता है अथवा उसका नुक्सान होता है, उसका प्राण दुःखता है। यह जान रहा है कि यह बात झूठ है तब भी वह बोलता है तो हिंसा कर रहा है। किसीकी चुगली निन्दा करना, अपयश भरा मजाक करना ये सब बातें अपने आशय में सक्लेश बनाये बिना, अशुद्ध आशय किए बिना नहीं हो सकतीं। इस कारण ये सब पाप हैं, हिंसा हैं।

चोरी पापमें हिसारूपता— चोरी केवल किसीकी नजर बचाकर, धन चुरा लेनेका ही नाम नहीं है, वह तो चोरी है ही, किन्तु जो बात इंसानियतके नाते न करना चाहिए उस बातको दूसरेकी नजर छुपाकर करना वह सब चोरी है। रिश्वत देना, रिश्वत लेना अथवा किसी वस्तुमें कोई अल्पमूल्य वाली वस्तु मिला देना, लेबिल बदल देना, जो जो काम प्रसिद्ध किए बिना, गुप्त ही रखकर किए जाते हैं, छिपाकर किए जाते हैं वे सब काम

चोरीके काम हैं। बस जो काम छिपाकर किये जाते हैं और जिसमे धन हरणकी बात भी है, किसी भी प्रकार हों, वह सब चोरी है। भ्रष्टाचार जिसका नाम रक्खा है वह सब चोरीमें गर्भित है।

कुशील व परिग्रह पापमें हिंसारूपता— कुशील, जैसे चोरी प्रकट हिंसा है इसी प्रकार कुशील नामक पाप भी हिंसा ही है। जो पुरुष अथवा स्त्री किसी परपुरुष या स्त्रीसे नेह लगाता है उसे ये सब छुपकर करने होते हैं और उस कुशीलमें फिर सभी पाप आ जाया करते हैं। वह पुरुष झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, अनेक व्यसन उसमें आ जाते हैं। उससे अपने भी ज्ञानदर्शनका घात हुआ, अपनेमें विकार बढ़ा, ऐसा प्रलोभन हुआ, अंधकार सामने आया। इस भवमें भी दुर्दशा और परभवमें भी दुर्दशा होगी। कुशील जैसा पाप भी हिंसा ही है।

कोई पुरुष यह सोचता हो परिग्रहके सम्बंधमें कि हम अपनी कमाई करते हैं, पैसा आता है, जुड़ता है, यह तो पाप न होगा, पर किसी वैभवमें आत्मीयताकी जो श्रद्धा बनी है उसके प्रति जो तृष्णाका भाव बना है उससे आत्माके स्वरूपका घात ही होता है। ज्ञानदर्शन निर्विकार नहीं रह सकता। उसमें जो रागकी कालिमा अधिक पड़ी हुई है वह भी हिंसा ही है। पाप जितने हैं वे सब भी हिंसा ही हैं। जो जीव हिंसाको अपनाता है उसे लौकिक सुखके भी साधन नहीं मिलते।

सांसारिक सुख दु:खमें आनन्दरिक्तता— यह धन मिलना, उत्तम कुल मिलना, बड़ी आयु मिलना, बलधारी निरोग शरीर मिलना—ये सब पूर्वभवमें जो पुण्य उपार्जित किया है उसका फल है। जिनके पुण्य नहीं है वे कितना भी श्रम करें पर ये सब लौकिक सुखके साधन उन्हें नहीं मिलते हैं— ऐसा विचार करके जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, जो हितकार्यमें कुशल हैं, विवेकशील हैं, वे यहाके कार्योंमें तो मंद उद्यम रखते हैं और आगामी भवके लिए वे अपना योग्य परिणमन करते हैं। इस भवकी बातोंमें ही अपना सर्वस्व उपयोग लगा दिया जाय, जो कुछ शक्ति प्राप्त की है उसका व्यय इस लोकके सुखके लिए ही किया जाय तो इससे आत्माका क्या पूरा पड़ेगा? ये सासारिक सुख भोगने से तो आत्मामें और रिक्तता आती है क्योंकि ये सुख काल्पनिक हैं, इनकी जड़ खोखली है। इनमें केवल अपना एक रिक्त भाव और शून्य जैसा अनुभव करना होता है तब ये हर्ष आदिक प्रकट होते हैं। मूलतः ठोसरूप ये सुख नहीं हैं, अन्यथा पीछे दुःखी होनेकी आवश्यकता न होती।

सांसारिक सुखकी मायारूपता— जो सुख अपने फलमें दुःख लावे वह समूल सुख नहीं है। ये सब सांसारिक सुख अंतमें दुःखके कारण बनते हैं। इन भौतिक साधनोंमें जो तृष्णा रखता है उसे इसके फलमें नियमसे विपदा भोगनी पड़ती है। जिसका अधिक मोह होता है स्त्रीमें, पतिमें, मा में, पितामें किसी के भी प्रति अधिक मोह होता है। विवेकका भी उल्लघन करके अपने आपको भी जरा भी न सभाल कर जो मोह होता है उसके फल में इसका बहुत बिगाड होता है। दिल काबूमें नहीं रहता, दिमाग भी फिर काम करने वाला नहीं रहता, बरबादी ही हो जाती है। स्वच्छन्द होकर इन परिग्रहोंमें बुद्धि फँसाना यह बहुत खतरेकी चीज है। जिन्हें अपना आगामी समय आनन्दमें व्यतीत करनेका भाव हो उनको यह तपश्चरण करना ही होगा कि मिली हुई चीजोंमें वे आसक्ति न करें और हर्षमग्न न हों। अरे किन चीजोंमें हर्ष माना जाय, ये सब चीजें कुछ समयको मिली हैं, अंतमें बिघट ही जायेंगी, कोई साथ न रहेगा।

धर्मयत्नका विवेक— भैया ! इन विनश्वर वस्तुवोंके पीछे अपने अविनश्वर आत्माको बरबाद करना यह विवेक नहीं है। जो कार्यकुशल पुरुष होते हैं, विवेकशील होते हैं वे इस भवके कार्यमें तो उद्यम कम करते हैं और परभवके कार्यके लिए उद्यम अधिक करते हैं। यहां अधिक उद्यम करनेसे फायदा भी कुछ नहीं है। उदय विपरीत है तो कितना भी उद्यम करो उससे लाभ नहीं मिलता। इसलिए प्रत्येक स्थितिमें चाहे गरीबी हालत हो, चाहे रईसी हालत हो, धर्मका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। सबसुख धर्मके प्रसादसे ही मिलता है।

पुण्यमें अनुकूलता— एक राजा घोड़े का बड़ा शौकीन था। उसने मन्त्रीको भेज दिया विदेशमें कि जावो कोई अच्छी नस्लका घोड़ा मिले तो ले आवो। एक सेठके बहुत अच्छा घोड़ा था। उसने मंत्रीको यों ही पुरस्कार रूपमें घोड़ा दे दिया कि महाराज साहबको यह घोड़ा भेंट कर देना। दाम कुछ न लिया। राजाने जब वह घोड़ा देखा तो बहुत पसंद आया। राजाने खबर भेजी कि सेठजी तुम पर जीवनमें कभी भी कुछ विपदा आये तो हमारा स्मरण करना, शक्ति भर हम तुम्हारी मदद करेंगे। दिनोंकी कौन जानता है। आज सब कुछ है कल कहो कुछ भी न रहे। सेठका यही हाल हुआ कि डेढ सालके ही अन्दर लाखों करोड़ोंकी सम्पदा यों ही विलीन हो गयी। इस सम्पदा के विलीन होते हुए देर नहीं लगती। पापका उदय आये, बुद्धि खोटी हो जाय तो किसी न किसी बहानेसे यह सब वैभव निकल जाता है। सेठ बडा परेशान हुआ। वह सीधा राजाके पास ही पहुंच गया, अपना

परिचय दिया तो राजाने २० बकरियां देकर कहा कि तुम इस कमरेमे रहो और इन बकरियोंसे अपना गुजारा करो। राजा ५-७ दिनमे सेठसे मिल लिया करता था और मिलने पर पूछ लेता था कि आज कितनी बकरिया हैं ? तो सेठ वता देता कि आज १८ बकरियां है, आज १५ है, आज इतनी है। कुछ महीने बाद वकरियोंकी एकदम वृद्धि हो गयी। राजाने पूछा अब कितनी बकरियां है ? बोला—महाराज अब २५ बकरिया हो गयीं। राजा बोला, सेठ जी अब तुम जितना धन चाहे ले लो और रोजगार करो। सेठ बोला—महाराज इतने महीने हो गए आपके यहां रहते हुए, आज ही क्यों कह रहे हो कि जितना धन चाहे ले लो, व्यापार करो ? तो राजा बोला कि हम तुम्हारे भाग्यकी परीक्षाकर रहे थे। जब तक तुम्हारा भाग्य विपरीत था तब तक कितना ही देते वह सब तुम खो देते। जब यह जान लिया कि तुम्हारा भाग्य अनुकूल हो रहा है, बकरियोंकी संख्या बढ गई तो हमने समझा कि तुम्हारा भाग्य अनुकूल चलने लगा है, तो अब हमें तुमको धन देनेमे कुछ हिचक नहीं है। सेठ बोला कि जब भाग्य ही मेरा ठीक हो गया तो आपसे ही मैं क्या लूँ ? खैर, कथानकसे यह शिक्षा लेना है कि हमारा काम तो विशुद्ध भाव करने का है।

धार्मिकताकी मुख्यता— भैया ! इस जीविकाके कार्यमे उद्यम तो करो पर इस भवके कार्यको मुख्य न समझो। मुख्य समझो भविष्यनिर्माणको, अपने आत्मीय आनन्दको। इन पारिवारिक झंझटोंको महत्व मत दो। ये तो थोड़े से परिश्रमसे जैसा होते हो होने दो, अपने ज्ञानको प्रबल बनावो, धर्म की रुचि करो। देखो–जब तक धन आदिक परपदार्थोंसे ममताका परिणाम चलता है तब तक अशान्ति बनी रहती है और जिस क्षण यह विचार बनाया जाता है कि मै समस्त समागमोंसे न्यारा, देह तकसे भी जुदा रागादिक और विकल्प वितर्क विचारोंसे भी जुदा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हू— ऐसी अपने ज्ञानमात्रस्वरूपकी जब सुध होती है तब इस जीवको शान्ति मिलती है। जब तक अपने आपकी सुध नहीं है तब तक निरन्तर विडम्बना ही रहती है।

पुण्यके कुछ साधन— पुण्यके अनेक साधन हैं। सब जीवोंको सुखी होनेकी भावना करना यह भी एक पुण्यका कार्य है। अब देखिये इसमें कुछ लगता तो नहीं है। न शरीरका कष्ट है, न अपने धनका व्यय है, लेकिन जिनका होनहार अच्छा नहीं है उनके ऐसी कषाय जगती है कि वे सबका भला नहीं सोच सकते। कुछका भला सोचेंगे कुछका बुरा सोचेंगे। अरे जब एक सोचने मात्रसे, सबका भला सोचनेसे पुण्य मिलता है, आनन्द मिलता

है तो इतना भी काम नहीं किया जाता। पुण्यके अनेक साधन हैं। सब जीवोंका भला सोचना, सुखी होना, चिन्तन करना यह भी पुण्यका कार्य है। कोई जीव दुःखी हो, अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर उसके दुःखको दूर करना और जैसे उसे चैन शान्ति मिल सके वैसा उपाय बनाना, यह है दया। दया से भी पुण्यकी वृद्धि होती है। दान—अपने समक्ष कोई योग्य कार्य पड़ा हुआ हो, अथवा कोई दुःखी जीव नजर आये तो अपनी शक्ति माफिक वहां धन का व्यय करना और हर्षपूर्वक उसको अनुभव करना कि यह तो हमारे कर्तव्यका पालन है, यह है दान और अपनी इच्छाका निरोध करना चाहे अपने मनको दबाना पड़े लेकिन दूसरे सुखी रह सकें, इस प्रकारका यत्न करना – ये सब पुण्यके कार्य हैं।

पुण्यके फलसे इस भवमें सर्व समागम प्राप्त होते हैं। भावना शुद्ध हो तो जीवको सुख अवश्य होगा। अशुद्ध भावना हो तो उसमें क्लेशका ही संबन्ध है, आगे तो क्लेश होगा ही। जब भावनाके कारण ही अपने भविष्यका निर्माण कर सकते हैं, चाहे हम अपना खोटा भविष्य रच लें चाहे हम सुखमय भविष्य रच लें, वह सब एक हमारी भावनापर निर्भर है। जो चीज केवल भावनासाध्य है उसमें भी कृपण रहे, अपने भावोंको भी न संभाल सकें तो फिर सुखकी आशा कहांसे की जाय?

अन्तःस्वच्छता— लोग कहते हैं इन्सानियत करो, किन्तु कहनेमें और करनेमें विशेष अन्तर है। कहनेको तो सभी कहते हैं, और अच्छी बात कहे बिना गुजारा भी नहीं चलता, बुरी बातका कहीं भी उपदेश नहीं होता। किसीके समक्ष उपदेश देने जावो, या किसी प्रसंगमें किसीसे कुछ बताना चाहें तो धर्मकी बात त्यागकी बात, उदारताकी बात ही बतायी जायगी। जो बात हम दूसरों को बताते हैं उसका हम कुछ भी अंश ग्रहण कर सकें तो वह हमारी अशान्तिके लिए है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये ५ पाप बुरे हैं। दूसरोंको इनके त्यागका उपदेश करते हैं, पर अपने उपयोगको, अपने आत्माको इस योग्य बनावो जिससे कि अहिंसक रहें, किसी भी जीवका बुरा न सोचें। अहिंसा पालनके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम ऐसा भाव बनालें कि सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना कर सकें। किसी मनुष्यने अपने पर अनेक आपत्ति भी डाली हों तो उन आपत्तियोंका उस कालमें प्रतिकार कर लेना और अपने आपमें मनुष्योंको सावधान बने रहनेकी सावधानी रखना, यह तो नीति और कर्तव्यमें है, पर उस पुरुषका विरोध करना, उसके प्रति बुरा विचार करना, उसके घात करने बरबाद करनेका परिणाम रखना—यह कर्तव्यमें शामिल नहीं है।

सम्यग्दृष्टिकी लोकहितभावना— सम्यग्दृष्टि पुरुष कदाचित् युद्धमें लड़ता हुआ शत्रुको मार भी दे तो भी उस शत्रुके प्रति अन्तरङ्गसे अकल्याणका भाव नहीं रहता है। कैसे होती है वह स्वच्छता, ऐसा आक्रमण कर देने पर भी जिसमें उसका प्राणघात होता है, फिर भी स्वच्छता बराबर रहती है। यदि सुखी होना है तो इस भवकी आजीविका और धन वैभवके लिए अधिक चिन्तातुर न हो। पुण्योदयके अनुसार जो स्थिति मिले उसमें संतोष रखे। प्रयत्न तो भविष्यके लिए करना है और वह प्रयत्न है धर्मपालन, पुण्यका अर्जन। इस कारण धर्म और पुण्यके अर्जनमें अधिक प्रीति करना यह ही हमारा पुरुषार्थ हमें अच्छे मार्गमें लगा सकेगा। हम मनसे सबका भला विचारें, वचनोंसे हितकी बात बोले। शरीरसे दूसरोंका दुःख हरे और विनश्वर धनको पुण्यमें उपकारमें व्यय करके उसका फल पायें, यह हम सबका कर्तव्य है।

> क स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना।
> यानान्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम्॥३७॥
> आ· ज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्।
> कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यात्यासितास्वादनः॥३८॥

अतीत और वर्तमान स्थिति— यह जीव अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। अब तक इसने संसारकी नाना पर्यायें बदली हैं। कभी निगोदमें था, एकेन्द्रिय हुआ, विकलत्रय त्रस हुआ, पञ्चेन्द्रिय हुआ। आज मनुष्य है। अब इसके बाद भी कुछ बनेगा। ऐसा अनेक देहोंमें बदलते हुए यह जीव आज इस स्थितिमें है कि अब दूसरेको अपने मनकी बात बता सकता है, दूसरेके मनकी बात समझ सकता है। वाग्व्यवहार, व्यापार शृङ्गार, बोलचाल, भाषणकला, संगीत—ये सब भी बहुत सी उत्तम बातें इस मनुष्यभवमें मिली हैं, लेकिन कर्तव्य यह है कि विषयोंमें ही इस भवको न गँवाकर अपने आत्मध्यानसे मननसे धर्मका पालन करना चाहिए।

विषयविष— ये विषय सुखकारी नहीं है, कड़ुवे विषकी तरह हैं, जैसे विषफल इन्द्रायण फल देखनेमें बहुत ही सुन्दर लगता है। जो खेतोंकी बाड़पर लटके हुए फल होते हैं, चिकने रंग बिरंगे बहुत सुन्दर जँचते हैं, किन्तु उनके खानेका फल मरण है। ऐसे ही ये वर्तमान विषयभोग, पञ्चेन्द्रियके साधन, विषयभोगोंका उपभोग सुहावना लगता है, किन्तु जिस कालमें उन भोगोंको भोगा जा रहा है उसही कालमें यह आत्मा अपनी ओर से रीता बनकर बाहरी पदार्थोंकी ओर लग रहा है, पहिली विडम्बना तो यह है। रात दिवस परपदार्थोंकी ओर चित्त बना रहता है, यह जीवपर

बहुत बड़ी विपदा है। जो आत्माके आनन्दका घात करदे उसे क्या विपदा न कहेंगे? हम आपकी जो यह परिणति है, धन वैभव परिजन बाह्य परिकर इनकी ओर जो चित्त लगा रहता है। अपने आपके सम्बन्धमें भी चिन्तन या विश्राम करनेकी बात भी नहीं सोचते हैं और दौड़े जा रहे हैं विषयके साधनोंके संचयमें यह क्या जीव पर कम विपदा है? लेकिन यह मोही जीव इस ओर दृष्टि नहीं देता।

मोहपिशाचबाधा— मेरा घर बढ़े, धन बढ़े, परिजन अच्छे रहें, आदिक यों नाना विकल्प मोही जन करते हैं, पर उन विकल्पोंसे इस जीवके आनन्दका, ज्ञानका घात हो रहा है, अनेक कर्मबन्धन हो रहे हैं। मुश्किलसे आज उत्कृष्ट भव पाया है, अब इसके फिर मिलनेकी संभावना तक भी नहीं है ऐसी तो स्थिति है और यह जीव चैन मान रहा है। यही इस जीवका मोह और अज्ञान कहलाता है। इन विषयोंमें लिप्सा करके अत्यन्त दुःखी भी ये पुरुष इन विषयके साधनोंको जोड़कर ही लोकमें अपना बड़प्पन जाहिर करते जा रहे हैं। धन बहुत बढ़ गया तो उससे अपनी बड़ी महिमा लोगोंको दिखाना चाहते हैं। मेरे बहुत द्रव्य है, मेरा अधिक पुण्य है, मैं सबसे बड़ा हू। अरे आत्मन्! तू तो उतना ही है जितना कि अन्य सब जीवोंमें है। उससे बढ़कर तू कुछ नहीं है। सब जीव भी अपनी-अपनी स्थितिमें अपने-अपने विकल्प करते हैं और तू भी अपनी वर्तमान भावनाके अनुसार अपने विकल्प कर रहा है, इससे बढ़कर तू और क्या करता है? काहेमें बड़ा है, कौनसी महंतता तुझमें आ गई है, क्यों फूला-फूला फिर रहा है? ये विषयसाधन तेरे पतनके कारण हैं, महंतताके कारण नहीं हैं।

अपना आन्तरिक महत्त्व व लक्ष्य— भैया! तेरा जो वास्तविक स्वरूप का महत्त्व है, ज्ञानानन्दरस निर्भर चमत्कार, उसे मलिन कर दिया है तेरी इन करतूतोंने। जिन करतूतोंसे लाभ भी कुछ नहीं मिल रहा है। केवल एक अपना समय गुजारना और अपने मनको कलुषित करना यह ही हो रहा है। कुछ तो चेत, कुछ तो अपने आपकी ओर आ। मुड़कर देखना है अपने आपका चमत्कार। उसको ही समझने के लिए तो हम आप सुबह शाम मंदिरमें आते हैं, प्रभुकी वाणीको सुनते हैं, पूजन वदनसे उनकी महिमा गाते हैं, लेकिन तुझे उस स्वरूपसे प्यार नहीं होता। यदि धन वैभव से ही प्रीति हो तो काहे की भक्ति है, सब केवल दिखावा है। किसको रिझाने के लिए तू ऐसा दिखावा करता है? क्या अन्य दर्शक पुरुषोंको रिझानेके लिए तू पूजनका दिखावा करता है? या प्रभुके गुणोंका स्मरण करनेके लिए तू पूजनका आरम्भ करता है। क्या कर रहा है? सोच।

यह संकल्प बनाले कि मुझे किसी अन्य पुरुषको कुछ दिखानेसे लाभ नहीं है। मैं अपने बारेमें किसी मनुष्यको कुछ अपना बड़प्पन दिखा दूं, महत्त्व जता दूं, इससे क्या लाभ है ? कौनसी शान्ति मिलेगी ? अशान्तिके काम तो वर्तमानमें ही कर रहे हैं।

आशा पाप— कोई मोही मायावी दुःखी ये संसारी जीव यदि यह विकल्प करने लगे मेरे बारेमें कि यह बहुत बड़ा है, तो यह उनका ही तो विकल्प है, उनसे तुझे क्या मिल जायगा ? तेरी शान्ति तो तेरी करतूत पर निर्भर है, दूसरेकी कल्पना, दूसरेके चिन्तन पर निर्भर नहीं है। आ अपनी ओर आ, अपनेमें विश्राम ले, बाह्यमें कुछ मत ढूंढ। बाहरमें कुछ मत निरख। अन्तरसे परिजनोंकी, मित्रजनोंकी, वैभवकी ममताको छोड़ दें, मोहमें कुछ न मिलेगा। गृहस्थीका कर्तव्य समझकर उनका पालन पोषण करे, पर ये ही मेरे सब कुछ हैं, ऐसी मान्यता रक्खेगा, ऐसा विष पीवेगा तो दुःखी तुझे ही होना पड़ेगा।

आशयकी सावधानीमें आत्मरक्षा— भैया ! भावनामें ही तो सावधानी है। और सावधानी कहां से लाना है ? जिसका आशय विशुद्ध है तो वह पुरुष सावधान है, जिसका आशय मलिन है तो वह पुरुष दुःखी है, दरिद्र है। इन विषतुल्य विषयोंकी तृष्णामें पड़कर इनसे तू महान् अपने को मत समझ। मेरा घर बड़ा है, दो तीन मंजिलका है, बड़ा सुन्दर है, अरे इससे तू अपनेको महान् मत जान। मकान मकानमें है। वह पुद्गलका रूप है, उससे तेरा सम्बन्ध नहीं है। बड़ा मकान बन जानेसे कहीं तेरा आत्मा बड़ा न बन जायगा। तेरा आत्मा तो तेरे गुणोंके विकाससे ही बड़ा बनेगा। तू अन्य दृष्टिको छोड़ दे। देख तू अपने आपपर दया न करेगा तो तेरे दर्द को कोई बांटने न आयेगा। कोई तेरे दुःखको मिटा सकता है क्या ? जो श्रम करेगा, जो रागद्वेष मोहका विकल्प करेगा, दुःखी उसको ही होना पड़ेगा। कोई दूसरा साथ देने न आयगा। जितनी अपने आत्माकी रक्षा कर सके कर ले।

मोहमें विपरीत दृष्टि— ये इन्द्रियां मनकी सेवक हैं। मनकी आज्ञाकारी बनकर ये इन्द्रियां प्रवृत्त हो रही हैं। जो मनमें रुचता है उसके ही अनुसार ये इन्द्रियां अपने विषयोंके व्यापारमें लग जाती हैं, पर यह मन भी इस जीवका शरण साथी नहीं है। वह तो एक कल्पनामात्र है। विषयोंका सुख कल्पनामात्र रम्य है, जैसे पित्तज्वर चढ़े हुए पुरुषको वस्तुका स्वाद उल्टा ही भासमान होता है ऐसे ही जब मोहज्वर चढ़ा है तो वस्तु उसे उल्टी उल्टी ही दिखती है। मेरा सुख भोजनसे मिलेगा, मेरा सुख वैभव स्त्री पुत्र ने

मिलेगा—इस प्रकार बाह्य पदार्थोंसे सुखकी आशा करना यह वस्तुस्वरूपके विपरीत स्वप्न ही तो है। अरे मेरा सुख मेरे आनन्द गुणके परिणमनसे निकलेगा, अन्य किसी पदार्थसे मेरेमे शान्ति प्रकट नहीं हो सकती है।

मुग्धप्रसगमे अलाभ— ये प्रभु जिनकी हम रोज पूजा करते हैं, ये अनन्त आनन्दमें मग्न हैं, क्योकि इनका आनन्द स्वाधीन है। किसी भी वस्तुके प्रति मोह रागद्वेष इनके नहीं है। पूर्ण शुद्ध निष्कलंक ज्ञानपुञ्ज हो गये हैं। वही स्वरूप हम आपमें सामर्थ्य है, क्योकि स्वरूप वही का वही है जो प्रभुका है। प्रभुके निकट न जायें और इन मोही जीवोंमे ही घुसे रहें तो क्या यह कोई विवेककी बात है ? उन मोही अज्ञानी जीवोंमें ही तेरी रुचि जगती है तो यही तुझपर बड़ी विडम्बना है, यही वास्तविक विपदा है। सुबुद्धि पैदा कर। तू सुबुद्धिस्वरूप ही है, परन्तु विषयोंकी अभिलाषा जग गयी सो सारी बुद्धि उल्टी हो गयी। ये विषय भिन्न चीज हैं, तू इनकी अभिलाषा क्यों करता है ? तू स्वतन्त्र है, अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपमात्र है। उस स्वरूपको निरख तो अनन्त आनन्द मिलेगा।

बाधाको साता माननेका मोह— बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि रखने से आनन्द में कमी हुई है, पर ये मोही जीव आनन्दकी कमी होने वाली परिस्थितिको ही सुख समझकर और जिन बाह्यपदार्थोंके आश्रयसे उनके आनन्दमे कमी हुई है उनका उपयोग बनाकर कल्पनामें सुखी होते हैं, उन्ही के गुण गाते रहते हैं, अपने गुणोंकी सुध नहीं रखते। मायामयी स्कधोंके ही गुण गाते हैं। कैसा सुन्दर मकान है मेरा, कितनी अच्छी डिजाइनका बनवाया है। अरे ये बाहरी चीजें हैं, इनको तू अपना बतलाना चाह रहा है। अरे तू अपने आपको श्रेष्ट उत्तम बना। जैसे तेरा आशय निराला बने वैसा आशय कर। धर्मके प्रसादसे आत्माका उद्धार भी होता है और ससारके सुख भी सामने आते हैं, इनमे दुतर्फा लाभ है, हानिकी तो कोई बात ही नहीं है। उस धर्मसे इतने बाहर क्यों भागे जा रहे हैं ? धर्मका आश्रय कर।

मोहज्वरमें विपरीत स्वाद— कभी अनुभव किया होगा, जब भीतरमे कुछ ज्वर बसा रहता है तो गन्ना भी चूसो तो कड़ुवा लगता है, क्योंकि वह ज्वरविष सारे शरीरमे व्याप गया है। यो ही यह राग ज्वर जब सारे आत्मामें व्याप गया है तो वस्तुका स्वाद इसे विपरीत आता है, चीजें हैं स्वतन्त्र, पर उन वस्तुओंको यह अपने आधीन समझता है। मैं जैसा चाहू तैसा होगा, मेरे किए बिना यह काम नहीं बन सकता है। कितना कर्तृत्वबुद्धिका ज्वर लगा हुआ है इस आत्मामें, और इसी कारण कड़ुवे विष समान ये सब पदार्थ हैं उनका स्वाद ले रहा है। पर क्या कि...

परसे सुख माननेका भ्रम – कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो उस सूखी हड्डीमें क्या स्वाद रक्खा है, पर सूखी हड्डी चबानेसे कुत्ते के दाढ फट जाते हैं और उन दाढोंके फटनेसे जो कुछ लोहू निकलता है उसका ही स्वाद वह कुत्ता लेता है, किन्तु मानता है कि इस हड्डीसे मुझे बढिया स्वाद आ रहा है। कोई देखने वाला दूसरा कुत्ता उस हड्डीको छीनने के लिए झपटे तो वह कुत्ता वहासे भागकर एकान्त स्थानमे जाकर उस हड्डीको चबाता है और उसमें स्वाद अपने ही लोहूका लेता है, पर मानता है कि मै हड्डीका स्वाद ले रहा हू। ऐसे ही इन बाह्यपदार्थोंको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेसे कहीं बाह्य पदार्थोंसे आनन्द नहीं मिलता है। इस जीवका स्वरूप ही आनन्द है। उस आनन्दस्वरूपसे ही आनन्द प्रकट होता है उसे तो यह जीव देखता भी नहीं है और यह जानता है कि मुझे विषयोंसे आनन्द मिला है, सो इन विषयोंके प्रति इसका आकर्षण होता है और यों ही व्यर्थ दुःखी होता रहता है।

सम्यक् और विपरीत ज्ञानका परिणाम— भैया! मोही प्राणीको यह विदित नहीं है कि वह मौजका तो बहाना है, ऊपरसे कल्पनाकी मौज है, पर उसके भीतर पीडा भरी हुई है, आकुलता बसी हुई है। यदि आकुलता मे न हो तो आत्मानुभव जगे। यह भी आत्मानुभव उसी के जगता है जो निराकुलताका प्रेमी है और निराकुलताके लिए ही अपना उद्यम रखता है। निराकुलता का उद्यम कहीं हाथ पैर पीटनेसे नहीं मिलता, या हाथ पैर चलानेसे बाधा भी नहीं आती। वह तो अपने ज्ञानकी बात है। कैसी भी देहकी प्रवृत्ति हो रही हो, पर ज्ञान आत्मस्वभावके अनुकूल बनाया जा रहा है तो वह अन्तः अनाकुल रहेगा और ज्ञान विपरीत बनाया जा रहा है तो अन्तः पीडा बनी रहेगी। सबका सारांश यह है कि तू विषयोंके साधनोंसे उपेक्षा कर, और ज्ञानमय तो तू है ही ना। इस ज्ञानका, इस उपयोगका प्रकाश अपने आपमें कर और अपने आपमें निरख कि यह मै आत्मा स्वभावतः कैसा हूं, मेरा स्वरूप क्या है?

हितकारी बोटिङ्ग— आज दुनियांमे लोग ९९ प्रतिशत एक विषयोंके साधनमें ही होड़ लगाये हुए हैं, उनके ही बीच हम आप पड़े हुए हैं। उनके कर्तव्यों को निरखकर हम आप भी अछूते नहीं रह पाते हैं। जो धुन उन ९९ प्रतिशत लोगोंकी है वही धुन हम आपकी भी बन जाती है, परन्तु संसारमे बोटिङ्गसे काम नहीं बन सकता। यह संसार तो अज्ञानी प्राणियोंसे भरा हुआ है। जैसे काम ये सभी संसारी लोग करते हैं वैसा ही काम हम भी करें, ऐसा निर्णय न बनायें, किन्तु हमारे पुराण पुरुष जो कुछ भी लिख

गए हैं, उनका जो चारित्र है उसे पढ़ें। उनकी वोट ही सच्ची वोट है। उन्होंने जो शिक्षा दी, जो मार्ग बताया उसपर ही अमल करें, उससे हित होगा।

विकट रोगकी सुकुमार चिकित्सा— देखो हमारे आचार्यदेव ने हम रोगियोंपर दया करके कैसी सुकुमार चिकित्सा बतायी है! कहीं घोर तपस्या करो तब तुम्हारा कल्याण होगा, ऐसा नियम यहां प्रभु नहीं बता रहे हैं। तुम्हारी जैसी शक्ति हो, शक्ति न छुपाकर तपस्या करो उससे लाभ यह होगा कि इन खोटे विषयकषायोंमें चित्त न रमेगा। तपस्याका लाभ इतना है पर मोक्षमार्गके लिए, शान्ति पानेके लिए तो यह बताया गया है कि तू अपने ज्ञानस्वभावका सिंचन कर, सेवन कर, इसको हराभरा कर, ज्ञानामृत का पान कर, अपने को केवल ज्ञानमात्र निरख, ऐसी ही बारबार भावना बना और इस तरहका ही अपनेको अनुभव कर। मैं समस्त पदार्थोंसे न्यारा देहसे भी न्यारा तर्क वितर्क रागद्वेष संकल्प विकल्प समस्त परभावोंसे न्यारा केवलज्ञान प्रकाशमात्र हूं, ऐसी अपने आपमें ज्ञानमयताकी भावना भा। उस के प्रसादसे ज्ञानका अनुभव जगेगा। तेरेमें जो उपयोग है, तू उस उपयोगको कहीं न कहीं लगाता फिरता है। किसी न किसीको जानता रहता है, किन्तु यह तो बता कि यह उपयोग क्या इन विषयभोगोंमें लगानेके लिए मिला है।

अमूल्य रत्नोंके सदुपयोगका अनुरोध— देख, आचार्यजन तपस्या करके अनुभव जगाकर तेरे लिए कैसे कैसे रत्नोंकी कैसी-कैसी अमूल्य बातें लिख गए हैं? सब कुछ भोजन तैयार इन ग्रन्थोंमें पड़ा है जो आत्मासे करना है। अब हम ऐसे प्रमादी हों कि तैयार किए हुए भोजनको भी न खाना चाहें तो इससे बढ़कर और दुःखकी क्या बात कही जा सकती है? गप्पोंके लिए, ऊटपटांग बातोंके लिए तो समय बहुत लगा दिया जाता है, मन भी उनमें बहुत रमा करता है। अभी कोई किसी साधु आदिके प्रति निन्दाकी बात छिड़ जाय या कोई गप्पें छिड़ जायें तो कैसा बढ़िया समय व्यतीत हो जाता है, कितना मन उसमें लगता है? देखें अब आगे क्या कहते हैं यह सुननेकी बड़ी उत्सुकता जगती है। ऐसे निन्दा और गप्पके शब्द सुननेको मिलें तो इसमें लोग बड़ी मौज मानते हैं। लेकिन ये सब अहित की बातें हैं। लोगोंके लिए जो हितकी बात है, जो सदाके लिए संकटोंसे छुटा देनेमें समर्थ है ऐसे इस अपने आत्माकी बात सुननेकी उत्सुकता लोगों में क्यों नहीं जगती है? व्यर्थकी बातोंके लिए तो समय है और उत्साह है पर अपने आपकी भली बातके लिए न समय है और न उत्साह है। यह मोह की ही एक बड़ी विम्बना हैं।

अन्तःविशुद्ध ज्ञानभावना बिना धर्मवेशवृत्तिकी व्यर्थता— देखो

अपना महत्त्व ज्ञानस्वरूपकी उपासनासे जानो। यदि तेरा उपयोग एक अलौकिक शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें जगता है, उसकी ही भक्ति करता है तो अपने को समझ कि हम महंतोंके पथपर चल रहे हैं। विरक्ति और ज्ञानकी बात यदि अन्तःकरणमें न समा रही हो और ऊपरी विषयोंके ढोंगकी बात ही की जा रही हो तो उससे कहीं अन्तरङ्गमें शान्ति तो न मिल जायगी? किसी सोनेके घड़ेमे मैला भर दिया जाय और ऊपरसे उसे खूब चमकीले कागजों से सजा दिया जाय तो क्या वह घड़ेके अन्दर पड़ा हुआ मैला अपनी दुर्गन्ध को छोड़ देगा? न छोड़ेगा। ऐसे ही विषयकषायोंसे मलिन अतःकरण हो और दिखावट बनावट, सजावट ऐसी बनाये कि लोग समझें कि बड़ा सुन्दर भेप है, सुन्दर मुद्रा हैं, सुन्दर वाणी है, सुन्दर क्रियाएँ हैं, सब कुछ अच्छा नजर आये, किन्तु अंत करणमे आशय मिथ्यात्वका ही पड़ा हो, देखो मुझे लोग महान् समझते हैं, यों अपनी महत्ता आंकी जाय तो इस वृत्तिसे आकुलता तो न मिट जायेगी। आकुलता तो वैसी ही बनी हुई है। कुछ शान्तिके पथमें आ और अपना मार्ग विशुद्ध बना। विषयोंके साधनोंमे ही मत बह, इससे ही अपने जीवनकी सफलता प्राप्त होगी, इस उत्कृष्ट मनुष्य-जन्मको विषयोंमें मत खो दो।

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥३६॥

आसक्तिसे मोहीका भोगत्याग— समस्त परपदार्थोंसे न्यारा अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र इस आत्माको कैसा भ्रम लग गया है कि यह अपने आपमें आनन्द अनुभव न करके बाह्यपदार्थोंमें आनन्द मान रहा है और इस तृष्णासे बाहरी पदार्थोंसे यह इतना जुड़ गया है कि चाहता तो यह है कि मैं समस्त वैभव आदिकको मुखमें रखकर लील जाऊँ, किन्तु लील नहीं पाता। इसमें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि समस्त विषयोंको निगल ले।

मोहमें तृष्णापरिहारकी अशक्यता— देशमें ऐसी बातें करने वाले बहुत मिलेंगे कि परिग्रह अधिक न जोड़ो, जितनेमें अपनी उदरपूर्ति हो उतना जोड़ो और बाकी सब दुनियाके लिए छोड़ दो। सभी जीव इन पदार्थों का भोग करें, तुम ही अकेले संचय मत करो, ऐसा कहने वाले बहुत हैं, और ऐसा कह कह कर वे धनका संचय भी बहुत कर लेते हैं। धनसंचयका एक उपाय मान रखा है, नेतागिरी मान रखी है। ऐसा उपदेश किया जाता है जो देशके हितकी बातोंसे भरा हो, पर ऐसा हृदय होना बड़ा कठिन है कि स्वयं भी उस धन वैभवके हड़पनेकी अन्तरङ्गमें चाह न रखे।

स्पर्शन और रसनाके भोगकी आसक्ति— स्पर्शन इन्द्रियका विषय

? सुहावने पदार्थोंका स्पर्श करना, अथवा कामवासना विषयक विषय सेवना सब जीव, प्राय. संसारके अज्ञानीजन इन विषयोंमें पड़े हैं, पर इन विषयोंको भोग नहीं पाते हैं, कमजोरी है, अशक्ति है। भोगोंके लालसी पुरुष रसोई में कितने ही सरस मीठे भोजन बनाते हैं, पर क्या सब कुछ खा पाते हैं? कुछ ही खा पाते हैं, बाकी सब छोड़ना पड़ता है। इतना सरस भोजन जो छोड़ा गया वह अन्य जीवोंपर दया करके नहीं छोड़ा गया, किन्तु सबको भोगने की शक्ति नहीं है इसलिए छूट गया। चित्त तो यह चाहता है कि खूब खाते जाएँ, पर इतना जो भोजन छूटा है वह अशक्तिसे छूटा है, निवृत्तिसे नहीं छूटा है। वैराग्य बसा हो, अन्य जनोंपर करुणा हो, इ। बातोंसे नहीं छोड़ा गया, किन्तु अशक्तिसे छोड़ा गया।

घ्राण, चक्षु व कर्णके भोगकी अशक्ति— घ्राणइन्द्रियसे इतर फुलेल सूँघना यह घ्राणका विषय है। कोई रात दिन २४ घंटे नाकपर फूल कहा रखे रहता है, कदाचित् रात दिन भी नाक पर लगाये रहे तो नाक खराब हो जाती है। गंध फिर ठीक न आयगी, नासिकामें रोग बढ जायगा। खैर, रात दिन कोई गंधका भोग नहीं कर सकता। जो छूट गया वह निवृत्तिसे नहीं छूटा, किन्तु अशक्तिसे छूटा है। चक्षुइन्द्रियसे रूपका देखना यह है नेत्र का विषय। किसी भी चित्रको, किसी भी रूपवान् पदार्थको टकटकी लगाये देखते रहो तो कब तक देखते रहोगे, आखिर नेत्र बंद ही करने पड़ेंगे। जो नेत्रइन्द्रियके विषयका परित्याग किया वह निवृत्तिके कारण नहीं किया, किन्तु अपनेमें अशक्ति है इस कारणसे परित्याग करना पड़ा। किसीको संगीत प्रिय है तो २४ घंटे या ४८ घंटे लगातार संगीत सुनले, ऐसा कोई सुनने वाला देखा है क्या? ज्यादासे ज्यादा चार-पांच घंटे संगीतका प्रोग्राम चला, बादमें स्वयं ही कहने लगे कि भाई बंद करो। बहुत समय हो गया, जो कर्णइन्द्रियका विषय राग संगीत त्यागना पड़ा वह वैराग्यके कारण नहीं त्यागा, किन्तु स्वयमें उस विषयोंको भोगनेकी शक्ति न थी, इसलिए त्यागा है।

मोहियोंके अशक्तिवश भोगपरिहारका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन— जैसे एक लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त है कि चन्द्रमाको राहु ग्रसता है और सूर्यको केतु ग्रसता है। ग्रसने वाला यथार्थमें कोई नहीं है, सूर्य एक विमान है, चन्द्र विमान है, राहु विमान है, केतु विमान है। सूर्य और चन्द्र विमान तो चमकीले हैं और राहु केतु विमान कृष्ण रंगके हैं। चलते-चलते जब कभी ऐसा अवकाश होता है कि चन्द्रके नीचे राहु विमान आ जाय तो चन्द्र ढक जाता है। यहा भगवान्को, चन्द्रमाको कोई संकट नहीं पड़ा, किन्तु प्रसिद्धि

ऐसी है कि चन्द्रमाको राहुने निगल लिया। इसी प्रकार सूर्यको केतु ने निगल लिया ऐसा लोग कहते हैं। उसही दृष्टान्तके अनुसार यहां यह जाने कि वह चन्द्रको भी पूरा क्यों नहीं निगल पाता? अशक्तिकी वजहसे, केतु सूर्यको पूरा क्यों नहीं निगल पाता? अशक्तिकी वजहसे यह एक लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त दिया गया है। यों ही जानो कि संसारके प्राणी इस समस्त विश्वकी विभूति पर एकक्षत्र राज्य करना चाहते हैं। पर क्यों नहीं कर पाते हैं, क्यों नहीं समस्त विषयोंको भोग पाते हैं? अशक्तिके कारण।

मोहवश अनादिभ्रमण— यह सारा जगत् मोहकी कीलीपर घूम रहा है। जैसे कुम्हारका चाक एक पतली कीली पर घूमता है ऐसे ही यह जीव-लोक रागद्वेषकी कीली पर सारे लोकमें चक्र लगा रहा है। कितने दिनोंसे यह चक्र चल रहा है? अनादि कालसे। हम आपके संसारमें परिभ्रमण करनेका कोई दिन नहीं कहा जा सकता है। कोईसा भी समय यदि आदि का मान लिया जाय कि हम इस दिनसे मोही बनकर संसारके चक्र लगा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह है कि उस दिनसे पहिले नहीं लगा रहे थे, अर्थात् शुद्ध थे। यदि शुद्ध थे तो फिर आप अशुद्ध कैसे हो गये? कारण बिना कार्य नहीं होता है। हम अनादिसे ही अशुद्ध चले आ रहे हैं। अनादि से ही भ्रमण करते आ रहे हैं, इतना अपने सहज स्वरूपका भान न होने से एक भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है, भ्रम हो गया है। मुझे स्त्री, पुत्र आदिक परिजनोंसे सुख मिलता है, मुझे भोजन आदिक विषयोंसे सुख मिलता है, इस प्रकार इसको एक भ्रमबुद्धि हो गयी है, सो यह एक छत्र तक सारे विश्व पर राज्य करनेकी चाह कर रहा है। मैं सबको भोग लूं, ऐसा महान् मोह का पिशाच लगा है।

मोहान्धकारमें भोगकी नवीनताका भ्रम— यह प्राणी मोहके वशीभूत होकर कोल्हूके बैलकी नाई अंधा बनकर चक्कर लगा रहा है। जैसे कोल्हूके बैलकी आखोंमें पट्टी बांध दी जाती है, ताकि यह बैल कहीं यह न समझ ले कि मैं चल ही रहा हूं सीधा। यदि वह बैल यह अनुभव कर पाये कि मैं उसही जगह गोल-गोल फिर रहा हूं तो वह गिर पड़ेगा। और यदि आंखोंमें पट्टी लग जाती है तो वह नहीं गिरेगा और यदि आंखोंमें पट्टी लग जाती है तो वह यह नहीं जान पाता कि मैं गोल-गोल चक्कर लगा रहा हूं। वह तो जानता है कि मैं सीधा ही चला जा रहा हूं। इसी लिए आखोंमें पट्टी बांध दी जाती है। ऐसे ही संसारी मोही प्राणीके ज्ञाननेत्र पर रागद्वेषकी पट्टी बँधी हुई है ताकि यह न जान पाये कि जो भोग पहिले भोगा वही तो भोगे जा रहे हैं। यदि यह समझले तो यह भोग न भोग सकेगा। इसे तो यह परिचय

में आना चाहिए कि मैं आज नया भोग भोग रहा हूं। सो अनुभव भी कर लो—हम आप रोज भोजन करते हैं, वैसी ही रोटी दाल चावल कल खायी थी, वैसी ही आज खा रहे हैं, वही अरहरकी दाल, चावल खाते समय क्या आप कभी यह सोचते हैं कि अरे ऐसा ही तो कल खाया था ? वह तो नया लग रहा है। मैं नया भोग भोग रहा हूं, नई चीज खा रहा हू, ऐसा मालूम होता है क्योंकि इसके ज्ञाननेत्र पर रागद्वेष की पट्टी बँधी हुई है। यों यह महान् मोहगृहसे यह ऐसा दबा हुआ है। इसको अन्तरमे बहुत व्यथा बनी हुई है।

आत्मप्रकाशमें विश्रामका अवकाश— जिसे भोगनेकी इच्छा लगी हो और किसी परवस्तुमें कुछ करनेकी वाछा लग रही हो, वह पुरुष सुखसे नहीं रह सकता। सुख शांति तभी आ सकती है जिस क्षण ऐसा उपयोग बने कि जगत्में मेरे न करनेको कुछ है और न मेरे भोगनेको कुछ है—ऐसा शुद्ध ज्ञानप्रकाश हो सके तो शांति मिल सकेगी, बात ऐसी ही है। इस देह देवालयके अन्दर यह आत्मदेव आकाशकी तरह अमूर्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपी है, यह जानता है और आनन्द भोगता है, सुख भोगे अथवा दुख भोगे, खुदका परिणमन भोगता है। ज्ञान करने और आनन्दका परिणमन भोगने के अलावा और करता क्या है ?

वस्तुतः किसीका परमे अकर्तृत्व— भैया ! भले ही देखनेमें ऐसा लगे कि इसने ईंट रक्खी, गारा लगाया, भीत बनायी, पर उसने कुछ भी नहीं किया। यह सब निमित्तनैमित्तिक विधिसे स्वयंमें अपने आप हो रहा है। आत्मा तो केवल भीतरमें ज्ञान और इच्छा कर रहा है। उस माफिक फिर शरीरमें वायु चलती हैं, उस माफिक हाथ चलते हैं, उस संयोगमें ईंट रक्खी जाती है, ये सारे काम हो रहे हैं, पर जो जितना है, आत्मा जिसे कहते हैं, उस स्वरूपकी ओर देखो तो वह आत्मा केवल अपने भाव भर कर रहा है। हम आप सब अपने आपके बारेमें सोचें कि मैं न किसीका कुछ कर्ता हू और न किसीका भोक्ता हूं। किसी भी क्षण ऐसी दृढ़ता आये तो बाहरमें उपयोग न फंस सकेगा। अपने अन्तरमें विश्राम आयेगा तो उस विश्राममें भव भवके बन्धे हुये कर्म स्वयं जल जावेंगे। बाहर दृष्टि करनेसे शान्ति न मिल सकेगी।

आत्मभावनाका अनुरोध— हम आप सबका यह कर्तव्य है कि जहा अनेक घण्टे बाह्यकार्योंमें लगाते हैं, रोजगारमें, सेवाभावमें, कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावमें लगाते हैं, किसी भी क्षण दस पांच मिनट तो ऐसा उपयोग लगाओ कि अरे ! मैं तो सारे जगत्से न्यारा हू, केवल अपने ज्ञानप्रकाश-

मात्र हुं। मेरा इस दुनियासे रंच भी सम्बन्ध नहीं है। दुनियासे यह आत्मा अब भी न्यारा है, मरने पर तो प्रकट यहांसे चला जायेगा। कुछ भी सम्बंध नहीं है—ऐसा अकिंचन्यरूप अपने आपका कुछ तो अनुभव कीजिये। इस उपयोग में शांतिका उदय होगा। १० ५ मिनटमे कुछ बिगड़ता है क्या? घर दूकान आदि सब चीजोंका यदि विकल्प न रक्खा जाये, एक अपने आपको न्यारा तका जाये तो कौनसी भीत गिर जायेगी, कौनसा नुक्सान हो जायेगा? कुछ हिम्मत बनाओ और रात दिनमे किसी भी समय ऐसा अनुभव करो, फिर सारा बोझा उतर जायेगा। कुछ क्षणके लिये एक बल प्रकट होगा। फिर अपने आप ही ये सारे सुख फलेंगे और आगे भी भली भांति आयेंगे।

कषायके एकत्वमें विडम्बना— यह जीव केवल अपने लिये ही विषयों के भोगनेकी बात नहीं कर रहा है, किन्तु दूसरोंको भी विषयोंके भोगनेके लिये उपदेश देकर विषयोंका आचार्य बन रहा है। देखो अमुक चीज इस तरह बनेगी, अमुक चीज इस प्रकार बनेगी तो इसमें अधिक आनन्द आता है। यों दूसरोंका भी यह उपदेष्टा बन रहा है। इसने कभी अपने इस सहज-स्वरूपके अनुभवका आनन्द न कभी सुना, न परिचयमें आया, न कभी अनुभव किया, इसलिये अन्तरंगमे प्रकाशमान् भी यह ब्रह्मस्वरूप इसकी समझमें नहीं आता। कषायोंके साथ इस स्वरूपको ऐसा लपेटकर खा लिया कि कितने ही कषाय अनुभवमें आ रहे हैं और यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवमें नहीं आता।

संगप्रसंगसे आत्माका अलाभ— भला बतलाओ बड़े बड़े मकान बना बनाकर अन्तमें इनसे क्या लाभ लूट लिया जायेगा? ये पुण्योदयके अनुसार आते हैं तो आने दो। उनकी भली व्यवस्था बना लो, लोकोपकारके लिये उसका अधिकांश भाग निकाल लो। पुण्योदयसे जो कुछ आता हो तो आने दो, पर उस धन वैभवकी भक्ति करना, लक्ष्मीका नाम लेकर उसकी उपासना करना, पूजा करना, मनौती करना—ये सब तो अशांतिके ही काम हैं। इनसे क्या लाभ मिलेगा? कुछ ऐसा भी सोच सकते हैं कि हम धन सम्पत्ति जोड़ कर रख जायेंगे तो हमारे साथ तो न चलेगा, किन्तु हमारे बाल-बच्चे, परिवारके लोग तो सुखी रहेंगे। ओह! सोचो तो सही कि गुजर जानेके बाद फिर आपका कुछ रहा क्या? न आपको उनका ख्याल रहा और न उन सब जिन्दा रहने वालोंको आपका ख्याल रहा। जैसे अन्य जीव सब अपरिचित हैं, ऐसे ही वे सब अपरिचित रहेंगे। किनके लिये इतना व्याकुल बनकर अपने न्याय मार्गको तजकर जिससे कि हम ज्ञानके अनुभवके पास भी न रह

सकें। क्यों श्रम किया जा रहा है ?

वैभवकी सकल अभिलाषाओंके निकट पहुंचनेकी अशक्यता— खेदके साथ यह कहा जा रहा है कि यह सारा जगत् जो मुखसे बचकर रह गया है, जो नहीं निगला जा सका है इस जीवसे, वह वैराग्यके कारण नहीं, किन्तु अशक्तिके कारण सबको निगलनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। भला जैसे आप अपने कर्मोंको लिये हुए हैं, ये अनन्त जीव भी तो अपना अपना भाग्य लिए हुए हैं। यह वैभव थोड़ा है और चाहने वाले करोड़ों अरबों हैं। यह वैभव किस किसके पास भटकेगा? छूटना तो सब है चाहे जैसे छूटे, ऐसा छूटने में लाभ भी कुछ न मिलेगा। उसे ज्ञान और वैराग्य बलका अन्तरमें भाव बना कर छोड़ा जाय तो उस त्यागसे लाभ मिलेगा। छोड़ना क्या है ? छूटा हुआ ही है सब। घरमें बसते हुए भी वे सब छूटे हुए ही हैं। धन मकान परिजन इनको आत्मामें कौन रख लेगा, इनको अपने स्वरूप रूप कौन बना लेगा ? वे तो छूटे हुए ही हैं। अपना मानो तो छूटे हैं न मानो तो छूटे हैं, ऐसे स्वभावसे छूटे हुए इन भोगोंको यदि मान लिया जाय कि ये मेरे से सब भिन्न हैं, मैं इस देह तकसे भी न्यारा हूं तो इतनी भावनामें कितना बल आया ? शान्ति मिलेगी, कर्म कटेंगे, अगला भव सुधरेगा।

परिणमनविधिमें भावकी प्रधानता— देखो भैया ! केवल भावों भर की बात है। चीजें सब जहाकी तहा हैं, कहीं परवस्तुको अपना सोच लेनेसे अपना हो नहीं जाती। स्वरूप सबका जुदा-जुदा है, हां जैसा है तैसा समझ लेवे तो उससे शान्ति मिलेगी। हम अपना ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं, पर भ्रम कर लिया जाय कि दूसरेका आनन्द भोगता हू तो उसे जीवनभर पिसना ही पड़ेगा। क्योंकि दूसरे दूसरे ही हैं, वे हमारे आधीन हो नहीं सकते। हम कुछ चाहते हैं दूसरे अपने ही रूप परिणम रहे हैं। हमारा किसी पर स्वामित्व नहीं है। हम किसीके स्वामी बने तो उसमें आकुलता ही भोगनी पड़ती है। जब भावोंसे ही सब कुछ है तो अपने भाव निर्मल क्यों न बना लिये जायें।

दृष्टान्तपूर्वक भ्रम वर्तनाका प्रकाश— एक छोटासा कथानक है कि चार भाई थे। वे बहुत गरीब हो गये तो उन्होंने सोचा कि बुवाके घर चलें थी तो १०-२० दिन खूब अच्छा भोजन मिलेगा। वे बुवाके घर पहुंच गए। ने बुवी बड़ी कजूस। शकल देखते ही बुवाके हृदयमें चूहे लोटने लगे। बुवा जी उन्हें बिठाया और पूछा कि तुम लोगों को खानेको क्या बनाएँ ? तो वे बोले— पूड़ी हलुवा वगैरह जो बनाना हो बनावो, जो बनावोगी वह हम खा लेगे। तो बुवाने कहा, अच्छा तुम लोग जावो तालाबमें स्नान कर आवो

और मंदिर पूजा कर आवो, फिर आकर भोजन करो। वे चारों कपडे उतार कर वहीं खाट पर सब कुछ रखकर तालाबमें स्नान करने चले गए। एक घटा स्नान करनेमें लगा। एक डेढ़ घंटा मंदिरमे पूजा करनेमें लगा। इधर बुवाने क्या किया कि उन चारोंके कपडे आदि जो कुछ रक्खे थे उन सबको उठाकर एक बनियाके यहां गिरवी रख दिया और आटा, घी, शक्कर आदि सामग्री लाकर हलुवा पूड़ी बनाया। जब वे चारों वापिस आए तो सीधे खाना खाने बैठ गए। वे खाते जाये और आपसमे बात करते जाये कि आज तो बुवाने बहुत बढ़िया भोजन खिलाया है। बुवा बोली— खाते जावो, बेटा तुम्हारा ही तो माल है। वे समझ न सके। वे तो जान रहे थे कि खिलाने वाला ऐसा ही कहता है। जब खा पीकर कपड़े पहिनने गये तो वहां देखा कि कपडे ही नहीं है। पूछा— बुवाजी हमारे कपड़े कहां हैं? तो बुवा बोली कि मैं कहती न थी कि खूब खावो तुम्हारा ही तो माल है। इसका मतलब? क्या इसका मतलब यह कि तुम्हारे सामानको एक बनियाके यहा गिरवी रख दिया और वहांसे आटा, घी, शक्कर आदि सामान लेकर बनाकर तुम्हें खिलाया। तो जैसे वे चारों भाई अपना ही तो खा रहे थे, पर भ्रम यह हो गया कि यह बुवाका खा रहे हैं, ऐसे ही हम आप जितना भी आनन्द पाते हैं वह अपने आपसे ही पाते हैं, परकी जगहसे नहीं। पर भ्रम ऐसा हो गया कि मै अमुक पदार्थसे आनन्द पाता हूं और इस भ्रमके कारण इसे बहुत आधीन होना पड़ता है। शुद्धज्ञान जगे तो शान्ति मिले।

> साम्राज्य कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुन-
> स्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवरा' प्राप्ता श्रियं शाश्वतीम्।
> त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते।
> माभूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं सपाद्य हास्यास्पदम्॥४८॥

अपने पुराण पुरुषोंको देखो, उनके जीवनमें क्या-क्या गुजरा? उनके जन्मके समय जनताने, परिवारजनोंने कितना हर्ष मनाया था और उनके बचपनमें उनके गुरुजनोंने कैसा उनका लाड़ प्यारसे दिल बहलाया था जवान होने पर कैसी-कैसी वीरतासे उन्होने देशपर साम्राज्य बढाया था कितने भोग भोगे, राज्य शासन किया, स्त्री पुत्रादिक परिवारसे सुख माना इतना सब कुछ होने पर भी जैसे ही उनकी आयु व्यतीत हुई कि एकदम पन्ना पलट गया। अब कहा रहे वे महल कहा रहा वह राज्य। वे तो विवेकी थे सो उन्होंने स्थिति क्या बनाई कि सर्वपरिग्रहोंका परित्याग करके केवल शरीर ही जिनका परिग्रह रहा, जंगलमे एकाकी रहकर आत्मध्यानमें रत हुए।

एक कविने साधुका एक चित्रण खींचा है। कोई राजा साधुके आगे से निकल गया, परन्तु उसने साधुको नमस्कार नहीं किया और छाती ताने अभिमान भरी मुद्रासे साधुको तुच्छ देखते हुए चला गया। तो साधु कहता है कि हे राजन! यदि तुम रेशमके वस्त्रसे सुसज्जित होकर अपना मन खुश किया करते हो तो यहां हम पेड़ोंकी छालके वस्त्रोंसे वेष्टित होकर अपना मन तुमसे भी अधिक प्रसन्न रखा करते हैं। तुम यदि इस लोकके अर्थके धन वैभव राज्यके स्वामी हो तो हम श्लोकके अर्थके स्वामी हैं। यदि तुम अर्थ अर्थात् धन वैभवके स्वामी हो तो हम श्लोकोंके अर्थके स्वामी हैं, यदि तुमसे तुम्हारे राज्यके लोग अर्थकी याने धनकी भिक्षा मांगते हैं तो बड़े-बड़े देश विदेशके जिज्ञासु हमारे पास श्लोकों के अर्थकी भिक्षा मांगनेके लिए आते हैं। यह एक कविकी उपमा है। तुम क्यों अभिमान करते हो? अरे, दरिद्र वह कहलाता है जिसके विशाल तृष्णा लगी हुई हो और जिसका मन तुष्ट हो जाय तो वह धनिक है। यह एक कविकी उपमा है।

हम उन पुराण पुरुषोंकी बात कह रहे हैं जो बडे साम्राज्यका परित्याग करके, जो संसारमें बड़ी सारभूत वस्तु मानी जाती है ऐसे भरतके षट्खण्ड शासनका परित्याग करके एकान्त निर्जन वनमें बड़ी प्रसन्न मुद्रामें विराज रहे हैं। वहां किस बातकी प्रसन्नता है? इतनी प्रसन्नता तो उन्होंने घरमें रहकर जीवन भर भी नहीं प्राप्त की।

मनुष्य हो अथवा महिला हो, आप यह निर्णय दे सकेंगे क्या कि सुन्दर कौन कहलाता है? कोई पुरुष अथवा महिला भले ही रूपमें गौरवर्ण हो, लेकिन पद पदमें कषाय करता हो, घमंड बगराता रहता हो, छल कपट व्यामोहमें निरन्तर चले, तृष्णाका कोई अन्त नहीं, जरा-जरा सी बातोंमें क्रोध उबल उठे तो वहां कुछ सुन्दरता जंचेगी क्या? और चाहे कोई रूपमें किसी भी प्रकारका हो, किन्तु वैराग्य हो, दयाशील हो, मंदकषाय हो, लोकके काम आये, लोगोंके अपराध क्षमा करनेकी प्रकृति रखता हो, ऐसी मुद्रासे रहने वाला कोई पुरुष अथवा महिलाकी मूर्ति देखो, वहां कितनी आभा प्रकट होती है। सुन्दरता शान्तिसे प्रकट होती है रंगरूपसे नहीं। यह ज्ञान, वैराग्य व शान्तिका प्रताप है। जो साधु महाराज बड़े बडे साम्राज्यका परित्याग करके जंगलमें निवास कर रहे हैं, वे बड़ी शान्तमुद्रासे प्रसन्न विराजे हैं।

यहां के लोग बुरे कामके लिए तो बड़ोंका नाम लेते हैं। बड़ों ने यह किया, पर भले कामके लिए बड़ोंकी कुछ याद नहीं करते। उन लोगोंने गरीबी सही तो तुम भी गरीबी सहो ना, पर उसके लिए राजी नहीं होते। उन्होंने परिग्रहका परित्याग करके अपने आत्मकल्याणमें ही शेष जीवन

गुजारा, इसकी भी भावना करो ना, पर वह भावना नहीं बनती है। भला किसी विषयमें, परिग्रहमें, भोगमें समय गुजारनेसे कुछ संतोष भी रहेगा क्या ? शांतिसे जीवन व्यतीत करना हो तो ज्ञानकी तृष्णा करो, वैभवकी तृष्णा करो। वैभव तो कदाचित किसीकी जान जानेके लिये भी हो जाता है। बड़ी बड़ी हत्यायें इस वैभवके कारण सुनी गई हैं, डाकुओंके द्वारा, गुंडों के द्वारा। प्रतापी राजाओंने अपने उस प्रतापका दुरुपयोग करके धनसंचय किया, उनकी बुरी दुर्गति हुई। अभी हालकी भी अनेक इस प्रकारकी उन सभी घटनाओंको देख लो। यह धन वैभव तो अशान्ति ही उत्पन्न करनेका कारण बनता है।

किसी घरमें किसी इष्टका वियोग हो जाये तो उसे समझानेके लिये अनेक लोग आते हैं। वे सभी नाती रिश्तेदार ऐसी याद दिलाते हैं कि वह बड़ा कमाऊ था, बड़ा भोक्ता था, सबको प्रिय था, उसके सारे गुण बखानते हैं। वह घरकी कैसी व्यवस्था करता था, किसीको तकलीफ न देता था, सबको आरामसे रखता था। अरे इन सब बातोंके स्मरण दिलानेसे कहीं इष्ट वियोगसे उत्पन्न होने वाला दुख दूर होगा ? वह तो बढ़ेगा। इष्ट वियोग से उत्पन्न हुए दुखके दूर होनेका उपाय है भेदविज्ञानका जगना। भेदविज्ञान जगे बिना अर्थात् सब जीव न्यारे न्यारे हैं, सब जुदी जुदी आयु लिए हुए हैं, किसीका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है—ऐसी सही बात मालूम हुए बिना दुख दूर नहीं हो सकता है। मोहका दुख मोहभरी बातोंसे दूर नहीं हो सकेगा।

भैया ! क्या किया उन पुराण पुरुषोंने ? कौरव और पांडवोंका राज भारतमें शासन था, उस समय उनका कितना प्रताप था, कितना दल बल था. महायुद्ध हुआ, जो आज इतिहासमें महाभारतके नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कितना संहार हुआ, अन्तमें रहा क्या ? कौरवोंके वंशमें कोई नहीं बचा और रहा भी कोई तो पता नहीं। यहां पाण्डवोंको वैराग्य हो गया। वह [illegible] रहा ही सारा धन पड़ा रह गया। इतनी लड़ाई लड़नेके बाद न कौरवोंको उसका मजा आया और न पाण्डवोंको। हां, आखिर उन पांडवों को अपनी शुद्धता और आत्मवैभव कारण आया। वे निर्वाण पधारे। यह परिग्रह, इसकी तृष्णा जीवको [illegible] की तरह दुःख देती है। जैसे पैरमें कांटा चुभ जाये तो वह वेदना पहुंचाता है। इसी प्रकार तृष्णाका परिणाम भी [illegible] चुभो चुभो कर दुःख देता है। जिन्होंने इस तृष्णाको त्याग दिया, वे ही मात्र मनुष्य सुखी हुए हैं। ज्ञानधारी तो संयम करते रहते हैं।

चार चोर थे। कहींसे दो लाखका धन चुरा लाए और रात ही रात चलकर उन्होंने कहीं चार बजे डेरा डाल दिया। सुबह होना है तो वे चारों चोर कहते हैं कि माल पीछे बांट लेना, पहिले आनन्दसे भोजन तो करलो। अच्छी बात। दो को तो भेजा पासके नगरमें भोजन लानेके लिए और दो बैठे रहे माल ताकने के लिए। नगरमें जाने वाले चोरोंके मनमें आया कि अपन ऐसा करें कि उस मिठाई आदिमें विष मिला दें, उन दोनोंको खिला देंगे सो मर जायेंगे, लाख-लाखका धन अपन दोनों बाट लेंगे। यहां उन दोनों के मनमें आया कि अपन ऐसा करें ना कि जैसे ही वे सामने दीखे बंदूकसे दोनोंको उड़ादें, फिर अपनको एक-एक लाखका धन मिलेगा। त्यों ही वे विष मिला हुआ मीठा लेकर आए कि उन दोनोंने उन्हें गोलीसे मार दिया। वे मर गये। अब उन दोनोंने सोचा कि यह बढ़िया मिठाई है, खा लें, फिर धन बांटेंगे। उस मिठाई को खाकर वे दोनों भी मर गए। साराका सारा धन वहीं रह गया, किसीके हाथ कुछ न रहा।

यह लक्ष्मी चंचला है जिसके न आनेका भरोसा, न जानेका भरोसा, न रहनेका ठिकाना। इस लक्ष्मीके पीछे कितने बवंडर मायाचार किए जाते हैं। अपनेको संतोष और आनन्दमें नहीं रख पाते हैं। रात दिन परको नायक मानकर परके प्रति नाना कल्पनाएँ मचाया करते हैं, यह वैभव यहीं रह जायगा और इसके ये साथी सब कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे। यह मनुष्य जीवन क्या परिग्रहके संचयके लिए पाया है? इन तृष्णालु मनुष्यों से भले तो वे पशु पक्षी नजर आते हैं जिन्हें कलको खानेके लिए संचय करनेकी भी चिन्ता नहीं है। जब मिल गया तब खा लिया। उन्हें कोई डर ही नहीं है, कोई सामने लाठी लेकर आये तब ही उनको डर है, पर मनुष्यों को तो २४ घंटे डर हैं। न कोई लठ्ठ लेकर आये, कानूनकी कल्पना हो गई, कैसे बनेंगे कानून, ऐसी आशंका हो गयी कि निरन्तर भय बना रहता है। यह परिग्रह इस जीवको शल्यकी तरह दुःख देता है।

एक भावकी बात कही जा रही है। यहां एकान्तसे यह शिक्षा न लेना चाहिए कि क्या हम घर छोड़कर ऐसे ही तुम्हारी तरह हो जायें। यह बात होना कठिन है, पर इसके लिए बात नहीं कही जा रही है। परिग्रह है, रहे, परन्तु ज्ञान तो अन्तरङ्गमें यथार्थ होना चाहिए, जिससे यह हिम्मत बने कि जो आज है कल न रहे तब भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है। "जगत्में सुखिया सम्यक्वान्। भीख मागकर उदर भरे, न करे चक्रीका ध्यान॥" सम्यग्दृष्टिकी महिमा अवर्णनीय है। भीख मागकर पेट भर लेते पर चक्रवर्ती के वैभवका ध्यान भी नहीं करते। कैसे-कैसे राजा लोग हुए हैं? अभी यहीं

देखो बड़े-बड़े चक्रवर्ती आचार्योंके पास आकर उनके दास बनते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो परिग्रहका परिमाण रखते हैं। हमारा ५० हजार का ही परिमाण है इस प्रकारका परिमाण कर लेने, परिग्रहका परिमाण कर लेने पर फिर तृष्णा नहीं जगती है, परिग्रहके परिमाणसे बड़ी निर्मलता जग जाती है और जो परिग्रहको सर्वदा त्यागकर केवल एक आत्मकल्याणके लिए ही अपना जीवन लगाये हैं उन साधु संतोंको तो परम प्रसन्नता रहती है। यह भावनावतोंकी बात कही जा रही है, उसको सुनकर अपने मनमें यह उत्साह करना है कि मार्ग तो वही श्रेष्ठ था और इस मार्गसे चलकर उन्होंने अपना उद्धार किया, हमारा भी पथ वही है। उन्होंने तो परिग्रहको पाकर फिर त्याग किया। भोगोंको भोगकर त्याग किया। यहां यह और भावना बना लो कि मुझमें ऐसी सुबुद्धि जगे कि भोगोंके भोगे बिना ही मैं पापोंसे निवृत्त होऊँ। देखो एक कोई कथानक सी है। एक संन्यासी अपने खप्परमें भिक्षा मांगकर लाया, भिक्षामें उसे एक दो लड्डू भी मिले। चलते-चलते एक लड्डू खप्परसे गिरा गया, और गिरा भी मैलापर खराब जगह पर। लालचवश उसको उठा लिया। लोगोंने देखा तो कहा—यह क्या कर रहे हो? एक अशुचि स्थान पर पड़ा हुआ लड्डू उठा रहे हो। तो वह कहता है— अरे चुप रहो, तुम्हें क्या पता है, मैं इस लड्डूको आश्रममें ले जाकर धोकर फेंक दूंगा। इतना सुनकर तो लोग और भी हँसने लगे। इसमें कौन सी चतुराई है? अशुचि स्थान पर पड़े हुए लड्डूको धोनेमें और फेंकनेमें क्या चतुराई है? ऐसी बात सुनकर हम आपको भी तो हँसी आती है, पर अपने आपके लिए हँसी क्यों नहीं आती है? यह कौनसी चतुराई है कि अशुचि अपवित्र इन भोगोंको भोगकर फिर इन्हें तजने का विचार करूँगा, इतना कुछ करलूँ, इतना भोग लूँ, फिर इन्हें छोड़ूँगा—ऐसी कल्पना करने वाले और उस अशुचि लड्डूको उठाने वाले इन दोनोंमें क्या अन्तर है? कोई पुरुष कीचड़ लगाकर फिर कीचड़को साफ करे, चूँकि मुझे नहाना है इसलिए खूब कीचड़ लगा लूँ, फिर खूब नहाऊँगा, ऐसी कोई कल्पना करे तो उसे कोई विवेकी न कहेगा। यों ही इन परिग्रहोंको, भोगोंको भोगकर फिर त्यागनेका संकल्प करे कोई तो वह परमविवेकी नहीं है। दुःखोंकी खान यह सब बाह्यपदार्थोंका उपयोग है। एक कहावतमें कहते हैं कि एक बार ईश्वरके पास गुड़ गया और बोला, महाराज हम बड़े दुःखी हैं, हमारी प्रार्थना सुन लो। क्या है दुःख? गुड़ बोला— सरकार, जब मैं खेतमें खड़ा था गन्नेके रूपमें तो लोगों ने मुझे तोड़-तोड़कर खाया, फिर वहांसे बचा तो कोल्हूमें पेल-पेलकर रस बनाकर पिया, कचूमर निकाल डाला। वहांसे

बचा तो कड़ाहीमें तपा तपाकर राब बनाकर खाया, वहांसे बचा तो गुड़ बनाकर खाया और वहांसे भी बच गया तो लोगोंने तम्बाकूमें मिला कर खाया। महाराज मुझे बड़ा कष्ट है। तो ईश्वर बोला— अभी तू यहांसे हट जा, यही तेरा न्याय है। अरे महाराज यह कैसे? अरे तेरी इतनी बातको सुनकर तो मेरे मुखमें पानी आ गया। तू यहासे हट जा, नहीं तो बच न पायेगा। कितनी विचित्रताकी बात है कि जो चीज प्रकट भिन्न है, साथ न रहेगी उस वस्तुके प्रति कितना अनुराग, कितना मोह कि अपना जीवन भी बरबाद किया जाता है, ठीक है। जब दूसरोंके पुण्यका उदय है तो क्यों न इतना श्रम करेगा और भ्रम करेगा? जो पुरुष बड़ा श्रम करते हैं धनसचय के लिए, उनके श्रमका निश्चयसे फल तो वहीं तुरन्त भोग लेता है। वह फल है कष्टका। किन्तु व्यवहारसे उसके श्रमका फल दूसरे भोगेंगे, यह नहीं भोग सकता। दूसरोंके पुण्यका उदय है इसलिए अथक परिश्रम करके यह इतने परिग्रहका लोलुपी हो रहा है। इस परिग्रहकी तीन गति बताई हैं—दान भोग और नाश। जो दान करता है और भोग करता है उसके तो मरणके समयमें कुछ संतोष रहता है। मैंने कमाया, श्रम किया तो उसका सदुपयोग किया। जो न दान करता है, न भोग भोगता है, न खाता पीता है सुखसे, उसको बड़ा कष्ट होता है, ऐसी तो तृष्णा कर करके धन जोड़ा और यहा साराका सारा पूरा एक साथ छूटा जा रहा है। जो द्रव्य न दानमें लगता है, न भोगमें लगता है तब तीसरी बात क्या होगी? नाश। ये ही तीन अवस्थाएँ परिग्रहकी हुआ करती हैं। अरे इन परिग्रहोंको तू पहिले ही त्याग दे, ये ही परिग्रह तुझे छोड़ देंगे इससे पहिले तू ही इन परिग्रहोंको छोड़ दे। हास्यका पात्र तू मत बन। कितनी बड़ी सुविधा है आत्मकल्याण करनेके लिए आरामसे जहां बैठे हैं, लेटे हैं, कैसी भी स्थिति है, भीतर ही भीतर एक ज्ञानप्रकाश बना है, एक अपने आपका ही अन्तरङ्गमें काम किया जा रहा हो तो यही एक शान्तिका मार्ग है। अपने आपको सबसे निराला आकिंचन्य ज्ञानमात्र आनन्दमय निरख लेना इसही से शान्ति मिलेगी। दूसरोंकी नौकरी ही करना है क्या? अरे इन भोगविषयोंसे, परिग्रहों से तृष्णावोंसे कुछ विराम लो और अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव कर एक आत्मसतोष प्राप्त करो, यही है हम आप सबकी उन्नतिका मार्ग।

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकम्।
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ॥
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथ वा।
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥४१॥

गृहस्थका विवेक— जैसे गृहस्थ थोड़ीसी धन हानिको बड़ी हानि करके मानते हैं और बहुतसे लाभको भी थोड़ा करके मानते हैं, ऐसे ही विवेकी पुरुष अपने थोडेसे भी दोषको बड़ा करके मानते हैं ताकि उसमें खेद और पछतावा अधिक होकर उस दोषसे छुट्टी पायी जा सके और बहुत गुण भी उत्पन्न हो गए हों फिर भी उन्हें थोड़ा मानते हैं ताकि गुणोंके विकासमें अपना उत्साह बना रहे। ऐसे ही प्रसंगमें इस छंदमें यह बताया जा रहा है कि गृहस्थका आश्रम हितरूप नहीं है। यद्यपि धर्म २ प्रकारके हैं- गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म, फिर भी यह तो सभी बताते हैं कि गृहस्थधर्म पूर्वकी चीज है, उसके पश्चात् अंतिम रूप तो साधुधर्मका होना ही पडेगा तब कल्याण है, इस गृहस्थको भी इसका बोध है। यदि गृहस्थ धर्ममें संतोष हो जाय और यहां ही सारे गुण नजर आने लगें तो आगे बढने का वह उद्यम क्या करेगा? गृहस्थका स्वरूप ही यह बताया है कि जो व्यक्ति साधुधर्मकी उपासना करता है, साधु होनेकी भावना रखता है उसका नाम है सद्गृहस्थ।

गृहस्थचर्याकी विभिन्नता— गृहस्थ आश्रम रहकर जो धर्मसाधना की जाती है उसका कभी तो यह रूपक बनता है कि खूब धर्ममें ही समय व्यतीत हो। जैसे उपवास ठान लिया, मदिर आदि धर्मस्थानोंमें ही निवास किया, प्रतिक्रमण आलोचना, सामायिक आदि शुद्धभावोंकी प्रक्रियाओं सहित समय बिताया, धर्ममय जीवन बिताया, किन्तु यह तो दो तीन घंटे के लिये, दो तीन दिनके लिए है, आखिर फिर घरमें उन बाल बच्चोंमे ही आना पड़ा, धन वैभव सम्बन्धी सभी बातें करनी पड़ीं, दो तीन दिन धर्ममय जीवन कर लिया था, धर्ममय कार्योंके बावजूद भी यह गृहस्थ प्रायः पापरूप भी प्रवृत्ति करता है। यही गृहस्थ जिसने उपवास, प्रतिक्रमण, विधान, पूजन, वंदन सामायिक आदि नाना उपायोंसे दो चार दिन धर्ममय व्यतीत किये थे वही गृहस्थ ही तो घरमें फिर पापात्मक कार्य करता है। विषयसेवन अथवा परिग्रहका संचय, दुकान दारी और सभी बातें ये भी तो करता है, जिसमें पाप ही अधिक है और कभी ऐसे भी कार्य करता है, जिनमें अधिक तो पुण्य और कुछ पाप दोनों चलते रहते हैं।

मिश्र-कार्यका उदाहरण— जैसे तीर्थयात्रा करने गये तो तीर्थयात्रा विशेष पुण्य-भावोंको बांधती है, पर वहांकी क्रियामें कुछ पाप भी साथ-साथ चलते हैं। जाना आना, चीजें उठाना धरना, घबड़ाहट करना, रेलमें जल्दी जल्दी चढ़ना उतरना, और कोई बिलकुल ही कहो कषायसे रंगा हुआ हो तो रेलमें चोरी करके जाये, बच्चा १४ वर्षका है और १२ वर्ष तकका आधा

टिकट पड़... ह ता कहो आधे टिकटसे ही जान बूझकर भी ले जाय, यह चोरी ही तो है। उस पुण्यकार्यमें ये पापरूप कार्य भी चलते हैं। न कोई ऐसी चोरी करे तो भी चलना ठहरना, उठना बैठना, अन्य प्रोग्राम बनाना इनमें अनेक आकुलताएँ होतीं हैं, ऐसे पाप भी साथ-साथ चल रहे हैं। कोई गृहस्थ कार्य ऐसे होते हैं जिनमें पुण्य विशेषरूपसे हो, किन्तु साथ ही पापभाव भी चल रहे हैं।

अन्धरज्जुवलन— गृहस्थ कभी तो केवल धर्ममें अपनी प्रवृत्ति करता है। जैसे दसलाक्षणीके दिनोंमें दो चार दिनके लिए उपवास करना, गृहकी ममता त्यागना, रोजगार आदि भी न करना, मन्दिरमें ही रहकर धर्मसाधना करना—ऐसा सब प्रकारसे निष्पाप जीवन व्यतीत करना चाहता है। कभी तो यों धर्ममय स्थिति बनती है और कभी पापात्मक स्थिति बनती है और कभी पुण्य पाप दोनों साथ चला करते हैं। यह चर्चा गृहस्थ आश्रम की करी जा रही है। गृहस्थको गृहस्थधर्म भली प्रकार निभाते हुए भी आत्महितके लिए उद्यम करना चाहिए। गृहस्थ अपने आश्रमको, धर्मको, परिस्थितिको निम्न श्रेणीका जानता है, इसमें सर्वथा हित नहीं है। उसकी ये सब प्रवृत्तियां अंधरज्जुवलन जैसी हैं। जैसे अंधा पुरुष रस्सी भांजता है तो पीछे उकलती जाती है, उसे यह तो नहीं दिख रहा है ना, कि पीछे रस्सी उकल रही है। वह तो भांजता जाता है। तो जैसे अंधा रस्सीको भांजता जाता है पीछे उकलती जाती है, काम सिद्ध नहीं हो पाता, ऐसे ही गृहस्थ धर्ममें भी कुछ धर्म किया, फिर पापकी बातें आयीं, फिर धर्म किया, फिर पापकी बातें हैं; यों यह गृहस्थ-आश्रम भी कोई विशेष फलको देने वाला नहीं है, ऐसा साधुजन सोच रहे हैं और गृहस्थजन भी सोचा करते हैं।

सद्गृहस्थकी सुदृष्टि— यद्यपि खोटे गृहस्थोंसे सद्गृहस्थका दर्जा बहुत उत्कृष्ट है और गृहस्थधर्म भी अपनेको संभालने वाला धर्म है। अपने व्रतकी सीमाके अन्दर रहते हुए भोगोंको भोगनेके पश्चात् वह अपना अविकारी जीवन बनाता है। ऐसे ही धनसंचयको अपनी आजीविकाके लिए करके भी उससे विरक्त रहता है। सद्गृहस्थ पुरुष गृहस्थीके साधनोंको जोड़ कर भी उससे विरक्त रहता है, यह उसकी एक आन्तरिक विशेषता है। फिर भी कोई विवेकी गृहस्थ अपनी गृहस्थ पदवीमें सतोष नहीं करता कि मैं सब कुछ कर रहा हू जो मुझे धर्ममें हित करना चाहिए। सकल संन्यास कर शरीरकी भी परवाह न रखकर जिस दिन मैं आत्माके ध्यानकी ही धुनि बना लूँगा वही सही जीवन है। मैं उस ही क्षणकी बाट जोहता हूं। मेरे ऐसे क्षण व्यतीत हों कि मैं केवल आत्माकी ही धुनमें रहूं और अपने अनुभ स्वरूप

अमृतपानसे . . . . ।वैसे अपने आपको स्वच्छ बनाऊँ—ऐसी भावना गृहस्थके है और इसही भावनाके प्रसादसे वह बसे हुए परिग्रहमें सगमे इच्छा भाव नहीं करता है, फिर भी यह गृहस्थ संतुष्ट नहीं हो रहा है अपनी गृहस्थ पदवीमे।

गजस्नान— गृहस्थको गृहस्थावस्थाके शुभ कर्तव्य भी गजस्नानकी तरह दिख रहे हैं। जैसे हाथी स्नान कर लेता है, धूल हट जाती है, शरीर साफ स्वच्छ धूलरहित उज्ज्वल बन जाता है, लेकिन सरोवरमें से बाहर आया कि अपने सूंडसे धूलको उठाकर अपने शरीरपर डाल लेता है। जैसे गज स्नान करके भी धूल ऊपर डाल लेता है ऐसे ही इस गृहस्थ धर्ममे लोग सुबह तो पूजन वंदन करके आत्माको उज्जवल बना रहे थे, दोपहरमें क्या किया, शामको क्या किया? अब जिनवाणीका श्रवण करके, उपदेशको सुनकर अपने आत्माको उज्जवल बनाया जा रहा है। एक आध घंटे पश्चात अब क्या करेगा, यों गृहस्थ धर्मके सब कर्तव्य गजस्नान की तरह हो रहे हैं। यह बात इस लक्ष्यको लेकर कही जा रही है कि गृहस्थको भी अपने आत्म-जीवनमें गृहस्थधर्म तक की सीमा नहीं बनानी चाहिए। उसे अपने जीवनका आखिरी लक्ष्य गृहस्थीमें रहकर इसही तरह कार्य करके जीवन बितानेका नहीं करना चाहिए। कदाचित् वर्तमान कालकी और अपने शरीरकी परि-स्थिति इस योग्य समझ रहा हो कि हमारे इस जीवनमें साधुता न निभ पायेगी। इस भवमें मुनि होना, निष्परिग्रह होना यह कठिन है मुझसे न निभेगा—ऐसा जानकर भी अन्तरमें यह श्रद्धा बनाये है कि इस भवमे न निभेगा तो किसी भवमें मुझे बनना ही है, उसे ऐसी अभिरुचि है उस आत्म ध्यानकी कि मैं साधुधर्म अंगीकार करके निर्विघ्न आत्मध्यानके प्रतापसे आत्मशुद्धि प्राप्त करूँगा। जिसके ऐसा परिणाम है उस गृहस्थके इस गृहस्थ धर्मकी बात कही जा रही है। यह तो उसे गजस्नानकी तरह मालूम होता है।

उन्मत्तविचेष्टितं— विवेकी गृहस्थको गृहस्थके कर्तव्य उन्मत्तकी चेष्टा जैसी बात विदित होती है। जैसे पागल पुरुष कभी इतने सुन्दर वचन बोल देता है कि जो ऊंचे भाषणकर्ता भी न बोल सकें, ऐसी उत्तम बात भी वह दो चार मिनटको कह देता है पर कुछ ही मिनटोंके बादमें उसका पन्ना पलट जाता है, अट्ट सट्ट बकने लगता है। कभी वह बहुत अच्छी क्रियाएँ करता है लेकिन पश्चात् फिर अट पट क्रियाएँ करने लगता है। तो जैसे पागलपुरुष कभी धर्मकार्य भी करने लगे तो कुछ ही समय बाद वह उस धर्मकार्यको करने में विवश हो जायगा, वह अपने आधीन ही नहीं है, ऐसे ही इस गृहस्थ धर्म मे किसी क्षण। किसी पूर्वके दिन या किसी भी समय धर्ममें कुछ समय

व्यतीत करलें, पर होगा क्या ? कुछ ही समय पश्चात् उन्हीं सब रंगोंमें फिर रंग जाना पड़ता है। यों उन्मत्तकी चेष्टाकी तरह यह गृहस्थ धर्म है— ऐसा गृहस्थ भी स्वयं सोच रहा है, यह गृहस्थ आश्रम सर्वथा हितरूप नहीं है। यद्यपि यह गृहस्थधर्म अनर्गल प्रवृत्तिसे रोकता है और व्यसनोंसे बचाता है, अनेक इसमें गुण और हित भरे पड़े हैं, फिर भी जिसने शाश्वत शान्तिका पथ पाया है, वह पुरुष इस गृहस्थके आश्रममें संतोष नहीं करता।

पथनिर्णयका प्रभाव— एक पुरुष संध्याके समय अपने गांवके लिए चला। गांव चार-पांच मील था। सोचा कि पहुंच जायेंगे, पर दो मील चलनेके बाद ही एक विकट जंगल पड़ता था। संध्याके समय रास्ता साफ नजर न आनेसे और अनेक पगडंडियां होनेसे किसी भूले रास्तेसे ही चल दिया। आधा मील चलनेके बाद उसे भयंकर जंगल मिल जाता है, कुछ भी रास्ता न सूझता था। अब वह जंगलमें फंसा हुआ सोचता है कि मुझे अब और आगे न बढ़ना चाहिए, क्योंकि और आगे बढ़ गए तो न जाने क्या परिस्थिति बन जाएगी ? और भी भयानक जंगलमें फंसता जाऊंगा। ऐसा सोचकर वह वहीं ठहर गया। घनी अन्धकारकी रात्रि थी। वह चिन्तामग्न था, प्राण बचेंगे कि नहीं, सुबह होते भी रास्ता मिलेगी कि नहीं, यह बड़ा व्यग्र हो रहा था। इतनेमें बिजली चमकी और उस क्षणिक चमकमें जो दूर दृष्टि डाली तो सड़क नजर आयी। सोचा कि तीन चार फर्लांग दूर पर मुख्य सड़क है और उस सड़कके पास पहुंचने वाली यह छोटी पगडंडी भी लगी है, उसे क्षणिक बिजलीकी चमकमें विदित हो गया। बिजली तो खतम हो गयी, वही घनघोर रात्रि है, पता भी नहीं है, लेकिन जो विह्वलता पहिले थी। वह विह्वलता क्या अब है ? नहीं है। हालांकि वही जंगल है, वही घनघोर अंधेरा है, रात्रि है, सब कुछ परिस्थिति वही की वही है, किन्तु उस क्षणिक प्रकाशमें यह सब ज्ञात हो गया है कि अमुक मार्ग यह है और इस पगडंडीसे वहां पहुंच लिया जाएगा। इतना अन्तरमें परिज्ञान होने से, विश्वास होनेसे उसे निराकुलता है। अन्तरंगमें वह सोचता है कि और ४, ६ घंटेकी रात रह गयी। रात्रि व्यतीत होगी, प्रातःकाल होगा, प्रोग्राम उसका निश्चित हो ही चुका है। इस पगडंडीसे जाऊंगा और मुख्य मार्ग पर पहुंच जाऊंगा और निर्विघ्न अपने घर पहुंच जाऊंगा।

आत्महित मार्गके निर्णयका प्रभाव— ऐसे ही यह जीव भूले भटके रास्तेसे चल रहा है। इन्द्रियके विषयोंकी, मनकी कल्पनाओंकी, इसे बड़ी परेशानी है और इसी कारण आत्माका जो सुन्दर पथ है, हितकारी मार्ग है, उस मार्गसे भ्रष्ट हो गया है और कभी किसी पगडंडीसे, कभी किसी

पगडंडीसे यह चलता जाता है। यह एक भयानक अंधकारमें फंस गया है। पता नहीं कि अब उद्धार होगा या नहीं? लक्षण तो बड़ा बुरा है, न ज्ञान ज्योतिका अनुभव, न आत्माका स्पर्श और ये काम क्रोध मान, माया, लोभ ये सभीके सभी उद्दण्ड होते चले जा रहे हैं। क्या हाल होगा? भयानक जंगल में फंसा है, लेकिन इस मिथ्यात्वकी अंधेरी रात्रिमें और विषयोंके भयकर बनमें पड़ा हुआ जीव कुछ अपना विवेक बढाता है और सोचता है कि जितना फँस गए ठीक है, अब और अधिक मत फंसो। जहा है वहीं बने रहने दो, देखा जायगा। वह रुक गया। इतनेमें क्षणिक ज्ञान विद्युत्का प्रकाश होता है क्षण भरके लिए और उसही ज्ञानप्रकाशमें इसे दिख गया कि मेरा चलनेका मार्ग तो है साधुमार्ग, मुख्यमार्ग जो निर्विघ्न है उस मार्ग तक हम गृहस्थधर्मकी पगडंडीसे चलकर पहुच जायेंगे, ऐसा उसे भान हो गया। अब भी वह उसही विषयवनमें उसी संग प्रसगमें पड़ा हुआ है, किन्तु अब वह बेचैनी नहीं है जो बेचैनी उसें पहिले थी। प्रोग्राम तो निश्चित् हो गया ना कि मैं ऐसा करूँगा। सकल संन्यास करके केवल आत्माकी भावना करके मैं इन समस्त द्वन्दों को संकटोको मिटा लूँगा—ऐसा उसकी भावनामें सकल्प हुआ है, बल प्रकट हुआ है, धर्म हुआ है, बस यही स्थिति समझिये सद्-गृहस्थकी। हालांकि यह सद्गृहस्थ अभी उस मुख्य मार्गपर नहीं लग पाया, फिर भी मनमें निश्चय होनेसे अशान्ति नहीं है।

साधुमार्गकी आस्था— साधुमार्ग उत्कृष्ट मार्ग है, जहां कोई चिन्ता ही नहीं होती, केवल एक शरीर मात्र परिग्रह है, कोई शल्यका विषय ही नहीं है। न किसीसे प्रेम, न किसीसे मोह, सब कुछ त्याग दिया है। साधु तो द्विज कहलाता है। द्विजका अर्थ है जिसका दूसरी बार जन्म हो। पहिला जन्म तो है मा के पेटसे पैदा होने वाला और दूसरा जन्म है साधुव्रत ग्रहण करनेका। जिसने साधुव्रत ग्रहण कर लिया है उसने दूसरा जन्म कर लिया है। जैसे मरनेके बाद दूसरा जन्म होने पर पहिले जन्मके चिन्ताशोक कुछ नहीं रहते हैं ना, इसी तरह साधुधर्मको ग्रहण करने पर पहिले जीवनत्र, गृहस्थ जीवनके शल्य चिन्ता शोक जो कुछ भी हैं, अब वे नहीं रहते हैं। इसी से साधुका नाम है द्विज। मैं साधुमार्गको अंगीकार करके सकल संकटोंको मिटा लूंगा—ऐसा इस गृहस्थके हृदयमें प्रोग्राम है और इस प्रोग्रामका ऐसा बल इसे मिला हुआ है कि यह अन्तरङ्गमें आकुलित नहीं होता। लेकिन फिर भी जिस गृहस्थीके आश्रममें रह रहा है गृहस्थ उस गृहस्थ आश्रममें संतोष नहीं कर रहा है। यह ही मेरा सब कुछ है और मैं सब कुछ कर चुका हूं—ऐसी उसकी कल्पना नहीं चलती है।

कल्याणार्थीका संकल्प— जो अविवेकी पुरुष हैं, मूढ़ पुरुष हैं वे तो इसही में मस्त रहते हैं। सब कुछ यहीं पाया है, ऐसी उनकी कल्पना है और वे अन्याय अभक्ष्यकी प्रवृत्तिमें भी चलते हैं व दलील देते हैं, मनुष्य इसी लिए तो हुए हैं कि जो कुछ भी खाया जा सकता है उन सबको खाया जाय, मौज लूटा जाय। यह उनकी कथा नहीं है जो सद् गृहस्थ हैं, अहिंसा अणुव्रत, सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत जिनके है। इन सद्गृहस्थोंकी भावना चूँकि सकल सन्यासकी है अत: गृहस्थाश्रममें उसे हित नजर नहीं आता है और उसकी दृष्टिमें यह जंच रहा है कि यह गृहस्थाश्रम तजनेके ही योग्य है, कल्याणकारी नहीं है। करते जाते हैं सभी काम, धर्ममय कार्योंमें भी पीछे नहीं रहते और अपनी जिम्मेदारीको भी कलापूर्वक निभाते हैं तिसपर भी संयमकी ओर इनकी निगाह लगी हुई है। मेरे करने योग्य कार्य तो सकलसंयम है, यों यह उपासक बड़ी श्रद्धासहित मुनिमार्गको यों निरखता है कि निर्वाण विभूतिके साधने वाला तो यही निर्ग्रन्थ मुनिधर्म ही है, इससे ही निर्वाण सिद्ध होना है। मेरा गृहस्थ आश्रम विचित्र विभिन्न प्रकारका है, मैं भी ऐसे साधुमार्गको ग्रहण करूँ— ऐसी भावना करता हुआ यह सद्गृहस्थ अपनी स्वच्छता बनाता है।

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ।
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानत ॥
तैलं त्वं सिकतासु यन्मृगयसे वाञ्छेर्विषज्जीवितुम्।
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया ॥४२॥

उत्कृष्ट भावका प्रताप— उत्कृष्ट भाव होने पर वर्तमान पदवीमें स्थिरता की जा सकती है। वर्तमान स्थिति जैसी हो, उतने मात्रको ही निरखकर भाव करने से वर्तमान स्थिति भी ठीक नहीं रह सकती है। इसका भाव यह है कि गृहस्थ पुरुष यदि गृहस्थके पदको निभाने तक ही अपनी बुद्धि बनाये तो वह अपने गृहस्थके कर्तव्यको भी सफलतासे न निभा सकेगा। सद्गृहस्थ गृहस्थीके कर्तव्योंको करते हुए मुनिधर्मकी उपासनाका भाव रखता है तब गृहस्थके योग्य उसके ज्ञान और वैराग्यकी स्थिति रहती है।

गृहस्थाश्रमके कष्ट और आनन्दकी विधि— इस छंदमें गृहस्थाश्रमके कष्टोंका वर्णन किया है। इस वर्णनका ध्येय यह है कि भावनामें यह बात बस जाय कि यह गृहस्थाश्रम रमने योग्य नहीं है। जिस किसी भी क्षण यह समय आये कि मैं देहमात्रका भी ध्यान न करके, किसी परपदार्थमें मोह और राग न करके केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने सहजस्वरूपको निरखूँ, ऐसा

क्षण जब हमें प्राप्त हो तो वह ही स्थिति हमारे कल्याणके लिए है। ऐसी भावना रखते हुए पुरुष गृहस्थावस्थाके कष्टोंकी बात देख रहा है कि यह गृहस्थ इतने कष्टोंको भोगकर उनमें ही रमता है और उनमें ही सुखको ढूढ़ता है। सुख आनन्द जिस विधिसे मिलता है वह विधि कहीं नहीं बदलती है। साधु हो तो भी आनन्द उसही विधिसे मिलेगा, गृहस्थ हो तो भी आनन्दकी विधिसे ही आनन्द मिलेगा। ऐसा नहीं है कि साधुवों को तो आत्माके ध्यान में आनन्द मिलता है और गृहस्थको स्त्री पुत्रोंके प्रेमसे आनन्द मिलता है, ऐसा भेद नहीं है। आनन्दकी विधि जो है उसही विधिसे आनन्द प्रकट होता है।

क्षोभ और आनन्दमें अन्तर— इस प्रसगमे ऐसा प्रश्न हो सकता है कि स्त्री पुत्रके प्रेमसे भी तो आनन्द मिलता है ना, क्यों उसका निषेध किया जा रहा है? उसे आनन्द नहीं बोलते हैं, उसे क्षोभ बोलते हैं। कोई क्षोभ होता है हर्षकी व्यक्ति को लिये हुए और कोई क्षोभ होता है विशादकी व्यक्ति को लिए हुए। क्षोभ उसे कहते है जहां कुछ उमड़ उमग विषमता हो, और जहां समता है, गम्भीरता है उसे आनन्द कहते हैं परिजनके मोहसे, विषयों के सेवनसे जो हर्ष उत्पन्न होता है वह हर्ष क्षोभको लिए हुए होता है, गम्भीरताको लिए हुए नहीं है। इसी कारण इन विषयोंके सम्बन्धसे इस आत्माको अपने स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती है। हर्ष भी क्षोभ है, विशाद भी क्षोभ है। आनन्द तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वके आश्रयसे ही प्रकट होता है। आनन्दकी दो विधियां नहीं हैं। यह गृहस्थ सम्यग्दृष्टी जितने अंशोंमें सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन आलम्बन कर पाता है उतने अंशोंमे आनन्द पाता है, उस आनन्दका जिसे परिचय हुआ है वह गृहस्थ गृहस्थ-आश्रमके बंधनको, फंसावको विडम्बना समझ रहा है।

आजीविकाप्रसंगके कष्ट— देखो गृहस्थ आश्रममे यह ही तो एक आधार है आजीविका का। खेती करना, राजावोंकी सेवा करना अथवा व्यापार करना, व लेखन, सेवा, शिल्पी करना—इन सबमें यह जीव कितना सुखकी आशासे क्लेश भोगता है। यहां यह प्रश्न नहीं उठाना तो फिर हम करें क्या? क्या इसे छोड़ दें? इस प्रश्नका प्रसंग नहीं है। यहां तो आत्मीय आनन्दके मार्गमे लगनेके लिए पर और परपरिणतियोंसे विरक्तिकी बात कही जा रही है। छोड़ दे कोई तो भला है, किन्तु विधिपूर्वक सच्चाईके साथ ज्ञानभक्ति सहित वैराग्यकी प्रेरणासे छोड़ सके कोई तो छोड़ दे। ऐसा पुरुष तो लाखोंमें एक विरला ही निकलता है। हां खेतीमें कितना परिश्रम है और समय-समय पर कितनी आशंकाएं हैं, क्लेश हैं? कृषिके प्रसंगसे गांवोंमें

रहना पड़ता है, खोटे असभ्य जनोंके बीचमें निवास है और हीन-क्रियाएं करनी पड़ती हैं। जरा जरासे प्रसंगोंमें मान भंग होता है, परस्परमें ही किसी बात पर विवाद हो जाए तो एक दूसरेका घात करनेके लिए भी उद्यत रहा करते हैं। यहां यह बात कही जा रही है कि साधुधर्मसे नीचे आत्महितके नीचे जितने भी कर्तव्य हैं, उन सब कर्तव्योंमें क्लेश ही क्लेश बसा हुआ है और हितका मार्ग रुका हुआ है।

सेवाव्यापारविषयक क्लेश— भैया! यद्यपि गृहस्थको आखिर यह सब करना पड़ता है, किन्तु मुख्यरूपसे इस आत्महितके लिए करने योग्य काम क्या है? उसकी भावना बिना हम गृहस्थके कर्तव्यको भी भली भांति नहीं निभा सकते हैं। राजाओंकी सेवा सैनिक बनकर, शस्त्रविद्या सीखकर या अन्य अन्य कार्योंकी शिक्षा लेकर सेवाएँ की जाती हैं, उन सेवाओंके करनेके प्रसंगमे भी कोई ऐसी आभा या झलक नहीं मिल पाती है, जिससे आत्मसतोष हो सके। व्यापारके लिए बनमें, समुद्रोंमें यत्र तत्र डोलना पड़ता है। समय पर व्यवहारधर्मका पालन अथवा शुद्ध भोजन आदिक व्यवस्थाएं भंग हो जाती हैं। इतने बडे कष्टको सहकर भी गृहस्थ सुखकी आशा रखता है। मुझे इस कार्यके सुख मिलेगा। इतना धन संचित कर लूं तो उससे सुख मिलेगा। इस प्रकारकी कितनी ही विडम्बित आशाएं यह मोही प्राणी बनाये हुए हैं।

परिग्रहमें सुखका अनवसर— क्या कोई निर्णय दे सकता है कि इतना धन संचित हो जाए तो सुख मिलेगा? कहीं पुस्तकोंमें लिखा हो तो सुना दो या कोई कमेटी बनाकर एक निर्णय तय करके बता दो कि इतना धन हो जाने पर सुख मिलेगा? कोई निर्णय करके तो बताओ कि कितना परिवार हो जाने पर सुख मिलता है? कोई इसका निर्णय नहीं दे सकता है, क्योंकि आनन्दकी ये विधियां ही नहीं हैं। यह जीव अज्ञानसे सुखका प्रयोजन सोचकर इन सब व्यवहारोंमें क्लेश करता है। इसका यह क्लेश बालूमें से तैल निकालनेके यत्नकी तरह है। कोल्हूमें रेत डालकर रेतको पेलकर कोई तैलकी आशा करे तो उसको तैल प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है। इसी प्रकार बाहरी पदार्थोंकी ओर आकर्षण करके अपने स्वरूपमें रीता बनकर, बाहर ही कुछ खोजकर आनन्दकी आशा करे तो उसका आशा करना व्यर्थ है।

पुराण पुरुषोंने भी कैसा साम्राज्य किया, कैसा कुटुम्ब बसाया? लेकिन फल क्या मिला? किन्हीं पौराणिक कथाओंको भी सुनलो या वर्तमान के बड़े पुरुषोंके जीवनको निरख लो, कुछ सार नजर नहीं आता। लाख

बातकी बात यही एक निश्चयमे लायें कि आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपको अपने अनुभवमें लिए बिना शान्ति नहीं आ सकती है।

बाह्य अनवकाशमे आनन्दका अनवसर— भैया ! बाह्यपदार्थोंकी ओर दृष्टि करके कुछ मौज मान लिया जाए तो वह स्थिर कहां होगा ? बाह्यपदार्थ मेरे आधीन नहीं। इस सांसारिक सुखमें कितनी पराधीनता है। प्रथम तो कर्मोंका उदय अनुकूल हो तब सुखकी आशा रक्खें। कर्मोंका उदय सदा अनुकुल नही रहता। वह तो आया मिटने के लिए, फिर नो कर्म अर्थात् विषयसाधन भी अनुकूल हों, यह भी अपने वश की बात नहीं है। बाह्यपदार्थ मिलें, न मिलें, परिजन और मित्रजन मेरे मनके अनुकूल चलें, न चलें, कोई हमारा अधिकार नहीं है। हो जाए अट्टसट्ट कोई अनुकूलता तो यह भी हमारे अधिकारकी बात नहीं है। फिर देहकी जो इन्द्रियां हैं और मन है वह भी कुछ स्वस्थ बना रहे, सावधान रहा करे तो सांसारिक सुख कुछ प्राप्त किया जा सकता है, सो इसका भी विश्वास नहीं है कि ये इन्द्रियां समर्थ रह सकें, सावधान रह सकें, मन काबूमें रह सके, यह भी अपने वशकी बात नहीं है। जिस स्थितिकी बात कही जा रही है उसको ध्यानमें रखकर सुनना है। इस प्रकारकी स्थितिमें किन्हीं बाह्यपदार्थोंसे हम आनन्दकी भीख मांगे, आनन्दकी आशा करे तो जितना हम कुबुद्धिमें बढ़ते चले जायेंगे, उतना ही हमारा आनन्द दूर होता चला जायेगा।

परको शरण मानना मात्र भ्रम— जिस जमानेमें श्रीराम और श्री कृष्ण आदि शलाकापुरुष हुए हैं, उनके समयमें कितना वैभव, कैसा चमत्कार और क्या सामर्थ्य था। उनके जीवनको ही देख लो कि अन्तमें किस किस तरहसे विघटना पड़ा। कृष्ण और बलदेव का कैसा वियोग हुआ, कब संयोग हुआ ? इतनी अधिक प्रीति नारायण और बलभद्रमें होती है, जिसका उदा- हरण और कुछ नहीं हो सकता। राम और लक्ष्मण इनकी प्रीति, कृष्ण और बलदेव इनकी प्रीति अगाध थी। एक ने दूसरेके पीछे जंगलमें भटकना स्वी कार किया। अन्तमें उनका भी वियोग होना पड़ा तथा और पुरुषोंके भ बादशाहोंके भी और इतिहासमें वर्णित पुरुषोंके भी चरित्र सुनलो। अरे उनका चरित्र क्या सुनना, सब कुछ आंखों तो देखते जा रहे हैं। कहां सा कहां असार ढूंढते हो? किस चीजकाआश्रय पकड़ें कि हमारा जीवन कृता हो जावे ? बाहरमें अन्य कोई सहारा नहीं है। जड़पुद्गल धनके संचयव इस प्रकारका कोई भी सहारा नहीं है कि जिससे यह जीवन धन्य हो जाते कृतार्थ हो जाये। परिजनोंमे, सचेतन परिग्रहोंमें भी कोई ऐसा जीव नहीं है जिसका शरण गहें कि कृतार्थ हो जाये।

वास्तविक शरण— व्यवहारसे प्रभु परमात्मा हमारे लिए सहारे हैं और निश्चयसे हमारे लिए हमारे ही शुद्धस्वरूपका दर्शन सहारा है। अन्य किसीमें आनन्दकी आशा करना, अन्य वस्तुसे भीख मांगना यह व्यर्थकी ही बात है। अपने स्वरूपको कुछ संभालो। अपनेमें और प्रभुके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं है। सभी लोग कहते हैं कि घट-घटमें प्रभु बसा हुआ है, इसका अर्थ क्या है? घट-घटका अर्थ है—देह देहमें। जितने भी ये देहरूपी घड़े हैं इन सब घड़ोंमें प्रभु विराजा है। तो यह मेरा घट जिसको हम लादे-लादे फिर रहे हैं इस घटमें भी प्रभुस्वरूप विराजा है। उस प्रभुस्वरूपकी ओर निहारो, उस स्वरूपकी अपेक्षा प्रभुमें और मुझमें अन्तर नहीं है। बीचमें भ्रमकी दीवाल, पर्यायबुद्धिका पर्दा है। भ्रमकी ओट दूर करदें तो प्रभुसे सचमुच मिलन हो सकता है। प्रभु मिलनके लिए अन्य लोगोंके मोहके त्याग की प्रथम आवश्यकता है।

ज्ञानबल और प्रभुमिलन— भैया! मिल लीजिए जिससे मिलना हो। प्रभुसे मिलना हो तो प्रभुसे ही मिलनेकी धुनि बनावो। और बाह्यपदार्थोंसे ही मिलना है, स्त्री पुत्रादिकसे ही मिलना है तो उनसे ही मिलनेकी धुनि बनावो। दोनों बातें एक साथ न निभ सकेंगी, कारण यह है कि प्रभु तो वीतराग निष्कलंक हैं और परिजन मित्रजन सराग और अकलक हैं। एक ही उपयोगमें निष्कलंक और सकलंक दोनोंका विराजना हो जाय, यह हो नहीं सकता है। विवेक बनाये तो ज्ञानी गृहस्थ पुरुष भी घरके समस्त कार्यों को करते हुए भी उपयोगमें प्रभुस्वरूपको बसाये रह सकते हैं, ऐसी सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमें बनी हुई है। एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। तत्त्वज्ञानको छोड़कर बाह्यपदार्थोंसे आनन्दकी आशा रखना, विप खाकर जीने की आशा रखनेकी तरह है। कदाचित् विप खाकर भी कोई जीवित रह जाय यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि परपदार्थमें मोह करके शान्ति पा सकें।

ज्ञानप्रतापित उपयोगका प्रसाद— सविधि निर्मापित, मारित विप खाकर भी पुरुष जीवित रह सकता है। संखिया आदि विषोंको आयुर्वेदकी विधिसे उसकी शक्तिका घात करके उसही विपको दवामें परिवर्तित कर रोगियोंको निरोग करनेमें अथवा मरते हुएको बचानेमें सहायक हो जाता है विप, क्योंकि वहां उस-विपैले पदार्थमें कुछ और ही विचित्र परिणमन हुआ है। ऐसे ही जिसे आत्मज्ञान मिला है, उस आत्मज्ञानके कारण इस विषयविषोंका ऐसा मारण कर दिया जाता कि गृहस्थ अवस्थामें इन विषय-विपोंको भोगता हुआ भी हित पंथसे भ्रष्ट नहीं होता है। करना क्या है? अकेले हैं, अकेले ही सोचना है, अकेले से अकेले को निरखना है। समयपर

सबका सब काम होता है। यह भीतरी पुरुषार्थ किसी भी जगह बैठकर अकेले कर सकते हैं। उसको रोकने वाला स्त्री पुत्र मित्रजन कोई नही है। हम चाहें तो अपने भीतरी मार्गसे चलकर अपने भीतरी ज्ञान-उपवनमे कुछ देर विहार कर सकते हैं, इसको कोई रोकने वाला नहीं है। हम ही तो अपने आपमें रीते बनकर बाहर ही बाहर बाहरी पदार्थोंमे आसक्ति करके डोलते रह सकते हैं।

ज्ञानप्रतापित उपयोगका प्रसाद— भैया! लौकिकी ये स्थितियां रमने योग्य नहीं हैं। तुम इन बाह्यपदार्थोंमें अपना उपयोगरूप सिर मारकर सुख की आशा रखते हो। अरे आशारूपी पिशाचका निग्रह होगा तो सुख हो सकता है। आशा और आनन्द—इन दोनोंका परस्परमें विरोध है। जहां आनन्द है वहां आशा नहीं। जहां आनन्द है वहां आशा नहीं जग सकती। बहुत बड़ी बात इसे सोचता हो कोई कि यह तो साधुवोंके करनेकी चीज है तो चलो यह भी ठीक है, पर जानना तो सबके लिए है ना। साधु करें, पर साधु क्या किया करते हैं जिससे वे आनन्दमग्न रहते हैं, इतनी बात जानने को रोकता कौन है? प्रत्येकको अधिकार है कि जो बात सत् है, जो जैसा है तैसा जान सकता है। बस यदि विशदरूपमें जान लिया तो वही किसी न किसी अंशमें करना भी कहलाने लगा। आशा पिशाचके निग्रहसे ही आनन्द मिलता है। क्या तूने यह नहीं जाना है, इसी कारण तू अल्प प्रयोजनके लिए परतत्त्वोंके आधीन रहना चाहता है।

विषयोंमें सुखकी व्यर्थ मार्गणा— जैसे कि बालूकी रेतमें तेल निकालने की बात सोचने वाला विवेकी नहीं है, ऐसे ही परपदार्थोंमें रमकर आनन्दकी आशा रखने वाला भी विवेकी नहीं है। यह सुगम और सीधासा पथ है अपने आपके भीतरका चमत्कार निरखने का, किन्तु यह प्रथम ही आवश्यक है कि बाह्यपदार्थोंको बाह्य जानकर, अहित भिन्न असार जानकर उन सबका विकल्प तोड़ दे। बहुत ही शीघ्र अपने आपके सहज आनन्दका अनुभव हो सकता है। यह झलक जिसने किसी भी समय पायी है उनके जीवनमें फिर कठिन परिस्थितियोंमें भी क्लेशका अनुभव नहीं होता है। सम्भव प्रत्येक प्रयत्न करके हमें अपने आपमें किसी भी समय तो निर्विकल्प आनन्दका अनुभव कर लेना चाहिए।

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखयमपिनोदिनः ॥४३॥

आशावश व्यर्थ आशा— आशारूपी अग्निसे जला हुआ और नाना वैभवकी वाञ्छावोंसे पीड़ित कोई पुरुष सुखके प्रयोजनसे आतापका निवारण

करने के लिए बांसकी छायाको ग्रहण करता है, सो व्यर्थ ही है। जैसे कोई पुरुष गर्मीके दिनोंमें गर्मीसे पीड़ित हुआ रगड़से जलनेकी प्रकृति रखते हुए बांसोंकी छायामें बैठ जाय या छायारहित बांसोंके पेड़ोंके नीचे बैठ जाय तो उसका यह श्रम व्यर्थ है। उससे संताप न मिटेगा, बल्कि अग्निसे जल जाने का संदेह और वहां पर है। बांसके नीचे बैठनेसे बांसके नोक भी चुभ जायें जो कीली की तरह पीड़ा दे सकते हैं। जैसे आतापसे पीड़ित पुरुष बांसके छायामें बैठ जाय, ऐसे ही आशाकी अग्निसे पीड़ित पुरुष इन पदार्थोंकी वाञ्छावोंके प्रयत्नमें ठहर जाय तो उसका यह उपाय व्यर्थ है।

आशावश व्यर्थ क्लेश— इस जीवको केवल एक आशाका ही दुःख है। इतनी आशा तो पशु पक्षी भी नहीं कर पाते होंगे, जितनी आशा यह मनुष्य करता है। यह मनुष्य सैंकड़ों वर्षोंके सामान जोड़ता है। कलका तो पता नहीं कि क्या होगा, लेकिन सैंकड़ों वर्षों आगेके लिए सामान जोड़ रहा है। पशु पक्षी कहा इतना संचय करनेकी प्रकृति बनाते हैं। उन्हें तो जहां भोजन मिल गया, कर लिया, कलके लिए वे कुछ उपाय नहीं बनाते, किन्तु यह मनुष्य प्रकृत्या यह चाहता है, चाहे वृद्धावस्था हो गयी हो, ऐसा भी नहीं है कि १० वर्ष भी और जिन्दा रह सके, लेकिन वैभव इतना होना चाहिए कि जिसके व्याजसे ही शानसे गुजारा हो। है अकेला बुड्ढा, फिर भी वह यही चाहता है कि मूलधन बचा रहे, व्याजसे ही गुजारा हो। कितने ही वर्ष आगे के निदान यह मनुष्य बांधा करता है। आशा ही एक ऐसी पिशाचिनी है कि जिसके कारण इसके सब आराम खराब हो जाते हैं। आशाकी पीड़ाकी वेदना हो और उस वेदनाको मिटाने के लिए कंचन-कामिनियोंकी शरण गहें तो यह तो इस जीवका व्यर्थका प्रयत्न है, उससे संताप मिटेगा नहीं, बल्कि बढेगा।

परमपदार्थका वश,छायावत् संसारमायामें लुभाव— यह आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निर्लेप भावमात्र है। यह अपने जिस स्वरूपमें है उसही में ठहरे तो इसे किसी तरहका क्लेश नहीं है, किन्तु स्वरूपकी तो सुध भी नहीं रखता, बाहरी पदार्थोंमें ही निरन्तर मग्न रहा करता है। यह संसारी जीव विवेकरहित होकर आशारूपी अग्निसे जलता हुआ उस जलनको मिटानेके लिए चेतन अचेतन परिग्रहोंसे सुख चाहता है, किन्तु ये सब साधन तो भव-भवमें दुःख ही उत्पन्न करते हैं। इस असार संसारमें सुख काहेका है? संसारकी माया बासकी छायाके समान है। बांस देखने में बड़े लम्बे। उनके नीचे छाया नहीं होती और छुटपुट थोड़ी छाया भी मिले तो नीचेका वह स्थल कटीला होता है और बास ही आपसमें रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते हैं।

और भस्म कर देते हैं। यह संसारकी माया कहने मात्रको है। सार कुछ नहीं है इसमें, बांसकी छायाकी तरह असार है। यह ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु तजने योग्य है।

जिस भव्य आत्माका यह संसार समाप्त होनेको हो, जो निकट संसारी हो उस भव्य आत्माके इस मायाको तजनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है। कितनी कठिन विपदा है? अत्यन्त भिन्न पदार्थ है वैभव, किन्तु उसी ओर यह उपयोग आकर्षित हो रहा है। चेतन अचेतन परिग्रहोंसे अपना ही बड़प्पन माना है। बड़प्पन इसका खुद अपने स्वरूपके कारण है, उसे नहीं देखता हैं। आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है। ज्ञान और दर्शन सहज गुण ही आत्माके धर्म हैं। इस धर्मका पालन विश्रामकी प्रकृतिसे होगा। पढ़ना लिखना धर्म पालनका एक साधन है, पर यह नियम नहीं है कि पढ़ लिखकर धर्मका पालन निभ ही जाएगा। हां, यह इसका उपयुक्त साधन तो अवश्य ही है।

ज्ञानार्जनका कर्तव्य-- कोई इस अक्षर-विद्याको न भी पढ़े लिखे, और हो मोहनीय कर्मका क्षयोपशम विशेष तो वह भी अपने इस सम्यक्त्व भावका अनुभव कर सकता है, लेकिन किसी अंधेको कहीं मार्गमें ठोकर लग जाए और उस पत्थरको निकाल फैंके, वहां मिल जाये धन तो धन कमानेका कहीं यह उपाय तो नहीं बन जाता कि सब लोग आंखोंमें पट्टी बांधकर अन्धे बनकर पैरसे किसी पत्थरमें ठोकर लगाये और उसे खोदें तो धन मिल जाए तो इस प्रकारकी बात तो नहीं है। धनप्राप्तिका उपाय तो व्यापार है, उद्यम है। ऐसे ही किन्हीं ऐसे पुरुषोंको भी धर्मका आश्रय मिल जाता है, जो न भी पढ़े लिखे हैं, फिर भी पुरुषार्थ तो पढने लिखनेका करना ही चाहिए। अपने हित स्वरूपके दर्शनके लिए। मनुष्यमें यदि क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता का माद्दा है तो उसे हितका पंथ सुगमतया प्राप्त हो जाता है।

सदाचारका कर्तव्य— ज्ञानके अनुभवके लिए चारित्र की भी जरूरत है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, इस प्रकारका मैं उपयोग बनाये रहूं, इस प्रकार की स्थिति पानेके लिए कुछ अन्तःआचरण भी तो करना चाहिए। कोई पुरुष व्यसनी हो, क्रोधी हो, अनेक मायाचारोंसे भरपूर हो तो उसे यह आत्मानुभूतिकी बात नहीं प्राप्त हो सकती है। निज विश्रामसे जिसको जो कुछ मिल रहा है अपने आपमें, वही तो आत्मानुभवका पात्र हो सकता है। जिसकी परपदार्थोंकी ओर दृष्टि दौड़ गयी है, वह वहां कहांसे विश्राम पाये और कहां से संतोष पाये? आशाका जाल हम न गूँथे—ऐसा उद्यम करना एक महान् तप है।

ज्ञानी गृहस्थका ज्ञानबल— वह गृहस्थ भी धन्य है कि सब कुछ करना पड़ रहा है तब भी आशाके जालमें फसा हुआ नहीं रहता। कितनी विशिष्ट तैयारी है ज्ञानी गृहस्थकी ? वह हर एक परिस्थितिसे मुकाबला करनेके लिए सदा तैयार रहता है। लक्ष्मी धन बहुत आये उसमें भी उसका मुकाबला करनेके लिए तैयार है। उसका मुकाबला यही है कि उस वैभवके समागममें हर्ष न माने। जो वैभवके समागममें हर्ष मानता है उसे अन्तमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ना है। किसी भी पदार्थका संग पाकर खुशी मानी तो समझ लीजिए कि उसपर बड़ा संकट आने वाला है। सुखके साथ दुःख लगा हुआ है।

सुख दुःखमें क्षोभकी समानता— सुख और दुःख दोनों एकसे ही झूठे परिणमन हैं। धन्य हैं वे क्षण जिस क्षण मोह ममता न जगकर जो केवल एक अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका नाता मानकर अपने आपमें विश्राम कर सकता हो, उसका जीवन सफल है। स्वप्नमें देखी बात जैसे स्वप्नमें झूठी नहीं मालूम होती, ऐसे ही मोहमें कल्पनावोंका होना ये सब बातें इस मोही जीवको झूठ नहीं मालूम होतीं। दूसरोंसे सम्मान चाहे, दूसरोंमें अपना यश बड़प्पन चाहे यह सब स्वप्नवत् कल्पना जाल है, किन्तु रहा ही नहीं जाता इससे चुप, विश्रान्त।

यशके चाहकी व्यर्थ दाह— अरे इस दो चार कोशोंकी जगहमें मेरा सम्मान न हो तो जैसे असख्याते कोशोंमें भी तो मेरी पूछ करने वाला कोई नहीं है, इन दो चार कोशोंके जगहमें कोई यश अथवा सम्मान करने वाले न हुआ तो क्या हो गया ? खेद किस बातका मानते हो ? अरे तू यश यदि सब जीवोंमें फैला सकता हो तो फैलानेकी धुन कर। जीव तो अनन्त हैं उनमें से ये हजारों लाखों जीव क्या संख्या रखते हैं। जब सब जीवोंमें तेरा यश नहीं हो सकता तो इन कुछ जीवोंमें यश चाहनेकी कल्पना करके क्यों अपना जन्म निष्फल गवा रहे हो ? यदि दुनियामें सब जगह तेरा यश फैल सकता हो तो यश फैलानेकी कोशिश कर। दुनियाकी जगह तो अनगिनते कोशों प्रमाण है। सब जगह किसका यश फैल सकता है ? गति ही नहीं वहां है। जब अनगिनते कोशोमें यश नहीं फैल सकता तो १०-२० कोशोंमें अपना यश फैलानेकी धुनि रखकर क्यों जीवन व्यर्थ गवा रहे हो ? देखो यदि समस्त कालोंमे, समयोंमें तेरा यश रह सके तो अपने यशको स्थायी बनाने का यत्न कर, किन्तु अनगिनते समयकी तो कथा क्या, १०-५ वर्ष भी किसीका यश टिकता नहीं है, पुराना पड़ जाता है, लोग भूल जाते हैं कोई-कोई कुछ जान पाता है। ऐसी [illegible] परिस्थितिमें तू बाहर

मन बना। अपने आपमें कुछ देख, निर्णय कर अपने आत्मासे अनुराग कर।

आत्माकी प्रियतमता— अच्छा, बताओ सबसे अधिक प्रिय इस आत्माको क्या है? अपना ही आत्मा। छोटे बच्चे मां की गोदसे प्यार करते हैं, उनको मां की गोदसे बढ़कर कहीं कुछ प्रिय नहीं है, लेकिन जब ये तीन चार वर्षके होते हैं तो फिर माँ की गोदसे प्रेम नहीं रहता है, फिर खेल खिलौनोंसे वे प्रेम रखने लगते हैं। मां जबरदस्ती उठाकर गोदमें भी रखे तो वह उठकर भागना चाहता है, खेल खिलौनोंमें रमता है। कुछ बड़ा होने पर खेल खिलौनोंसे भी प्यार नहीं रहता। स्कूल पुस्तकोंसे प्रेम होने लगता है, विद्याबोंसे प्रेम होने लगता है। कुछ जानकारी विशेष हुई तो बड़ा हर्ष मानता है। कुछ और बड़ा हुआ तो विद्याका प्रेम भी नहीं रहा। परीक्षामें पास होनेका प्रेम रहा। चाहे अक्षरज्ञान भी न हो, पास भर हो जायें, इतना भर प्रेम है। कुछ और बड़ा हुआ, डिग्रियां भी मिल गयीं, अब उसे विवाहसे स्त्रीसे प्रेम हो गया, और सबके प्रेम छूट गये। अब और बड़ा होने पर स्त्री भी प्रिय न रही, अब बच्चे प्रिय हो गये। कुछ और बड़ा होने पर धनसे अधिक प्रेम बढ़ने लगता है, स्त्री बच्चोंकी भी अब परवाह नहीं करता। और क्यों जी, कदाचित् घरमें आग लग जाय तो जहां तक सम्भव है धन निकालेगा, लड़कोंको निकालेगा। कदाचित् कोई लड़का जलती हुई तेज आगमें फँस जाय तो वह और लोगोंसे कहेगा कि मेरे बच्चेको निकाल दो। हम तुम्हें २० हजार रुपये इनामके देंगे। अब उसे न बच्चा प्यारा रहा, न धन प्यारा रहा। सबसे प्यारा अपना प्राण रहा। और कदाचित् वही पुरुष विरक्त होकर, ज्ञानी बनकर, साधु होकर आत्मध्यानी बने और उस समय कोई सिंह या बैरी इसकी जान लेनेको आये तब इसे क्या प्यारा रहा? वह जान देना तो स्वीकार कर लेगा, किन्तु अपने ध्यानको छोड़ना, अपनी ज्ञानानुभूतिका त्याग करना पसंद नहीं करता। जन्ममरण तो होते ही रहते हैं। कितने ही बार जन्म-मरण हुए, पर एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें उपयोगको बसा लेना, मग्न कर लेना यह नहीं हुआ। यही है सबसे अधिक दुर्लभ वैभव। वह अपने आत्माकी रक्षा करता है, शरीरकी रक्षा नहीं चाहता है। तो अन्तमें यही तो सिद्ध हुआ कि सबसे अधिक प्रिय है अपने आपका आत्मा।

आत्माकी संभालका मुख्य कर्तव्य— भैया! अपने आत्माकी दया करें। आशासे, कषायोंसे, मोहजालोंसे आत्माको परेशान करनेमें बरबादी ही है और पापकर्मोंका बन्ध होता है। यहांके मरे न जाने कहां गये? फिर यहांके लोग क्या बात पूछेंगे? कुछ वर्षोंके जीवनमें मोह ममता करके अपना

भविष्य बिगाड़ लेना यह बुद्धिमानी नहीं है, और फिर सर्वप्रथम तो यही बात है कि हम आप दूसरोंकी चिन्ता कर कर के क्लेश और सक्लेश भोगते हैं, कर्मोंका बंध करते हैं। एक अपनेको सभाल लें तो सब संभल जाता है, एक अपनेको न संभालें और बाहरमें अनेक पदार्थोंको संभालने का यत्न करें तो कुछ नहीं संभालता। यह तो खुद संभाला हुआ नहीं है, दूसरे पदार्थ को संभालनेका इस जीवको अधिकार नहीं है। यों यह परबुद्धि वाला जीव दोनों ओरसे गया।

खुदकी संभाल बिना स्वपरके संभालकी असंभवता— जैसे कोई पुरुष यह चाहता है कि मैं समाजको धर्मात्मा बना दूं। समाजमें मानो १०० व्यक्ति हैं और १०० के १०० यही चाहते हैं कि मैं समाजको धर्मात्मा बना दू। खुद को कोई भी धर्मात्मा बनानेका यत्न नहीं कर रहा तो यों सबके सोचने पर भी क्या कोई धर्मात्मा बन सकेगा? यदि उनमें से १० मनुष्य भी यह सोचलें कि मुझे अपने कल्याणके लिए धर्मात्मा बनना है तो, चलो १० तो धर्मात्मा बने। खुदकी सभाल बिना न खुदकी संभाल है और न परकी सभाल है। अपने आपको सत्य श्रद्धान् ज्ञान और सदाचारसे सभालना चाहिए। यहां कोई किसीका साथी नहीं है। खुदकी निर्मलना हो तो खुदका खुद शरण हो जायगा, पर दूसरा कोई शरण न होगा। किसी से कह कर भी देखलो जो आपका प्रिय हो। भाई! हम इतने पाप करते हैं, हमारे आधे पाप तो बाट लोगे ना? मैं इन पापोंको बांट लूँगा— इनना कहना भी कोई पसद न करेगा। शरण सहाई होना तो बहुत दूरकी बात है।

परसहयोग भी स्वधर्मका प्रसाद— भैया! खुदमें धर्म है, खुदमें पुण्य है तो ऐसा ही सहज योग मिलेगा कि अनेक साथी बनेंगे। खुदके अधर्म है, खुदके पापका जमाव है तो इसको पूछने वाला कोई न होगा। इस कारण अपने आपको सुखी करने के लिए शुद्धज्ञान सत्य श्रद्धान् सत्य आचरण करें, अपने पर विश्वास रक्खें। जब हम स्वयं ज्ञानमय हैं तो स्वयं सब कुछ निर्णय भी कर सकते हैं, पर होना चाहिए निष्पक्षभाव। दुःखरूपी घामसे पीड़ित पुरुष, आशाकी अग्निसे जला हुआ पुरुष बांसकी छायाकी तरह संसारकी मायाकी शरणमें न बैठे, वहां सतोष न होगा किन्तु निजस्वरूप कल्पवृक्षकी शरणमें आये तो इसे शान्ति होगी, धर्म होगा और इसका भविष्य भी सुखमय होगा।

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा।
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं किल ॥

क्षारं वार्यु द्गात्तदप्युपहतं पूति क्रमिश्रेणिभिः ।
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥४४॥

तृष्णाकी अचिकित्स्यता— संसारके प्राणियोमे तृष्णाका बढ़ता हुआ रोग पड़ा हुआ है, जिससे अनेक यत्न करने पर भी तृष्णाकी पिपासा शांत नहीं होती है। किसी पुरुषको प्यास लग रही हो और वह प्यास बुझानेके ख्यालसे कुवा खोदना प्रारम्भ करे तो पहिले तो यह बताओ कि प्यास तो लगी है और कुवा खोदनेमें जुट पड़ा है तो कहां तक सफलता मिलेगी ? मान लो कुवेको थोड़ा खोदा भी और बीचमें निकला कोई जबरदस्त बड़ा पत्थर तो अब और बड़ी कठिनता हो गयी। ये जनाब प्यासे ही बैठे हैं। शिला भी बहुत परिश्रमसे खोदकर फेंक दी और बहुत खोद देनेके बाद बड़ी मुश्किलसे निकला थोड़ा सा पानी, किन्तु वह पानी भी मिला खारी और इतना ही नहीं उसमें कीड़े भी बिलबिलाते हों और फिर भी खोदते खोदते ही थोड़ी देरमें वह पानी भी सूख जाये, जैसे इस प्रसंगमें इस प्यासेकी विडम्बना है, इसी प्रकार समझिये संसारके तृष्णावी पिपासु धनलिप्सु पुरुषकी गति भी होती है। किसी भी ओर की यह सारी बात निरख कर परख लो।

धनकी तृष्णाका फल रिक्तता— कोई धन वैभव का पिपासु है, बहुत सा वैभव सचित करना चाहता है तो वह इसके लिये बड़ा श्रम करता है, बड़े आरम्भ व्यापार धंधोंको जोड़ता है। कितने कर्तव्य करने पड़ते हैं, उसी में आ जाते हैं, अनेक रोड़े और विघ्न। उन विघ्नोंको किसी भी प्रकार दूर किया जावे ? और और भी बड़े कठिन श्रम किये जाये, फिर दिखता हो ऐसा कि इसमें कुछ अब आय होने वाली है। उस आती हुई आयमें भी कुछ विघ्न हो, कुछ लोग उलटे लग गए, खा पी लें, विघ्न बाधाएं आएं तो लो जीवन भर तो लिप्सामें श्रम किया और अन्तमें फल शून्य रहा, तृष्णावी पुरुषका अन्तिम फल जीरो रहता है। प्रत्येक प्रकारकी दशामे इसे देखते ही जाइयेगा।

यशकी तृष्णामें श्रम—कोई पुरुष संतानका अभिलाषी है, उस संतान के होनेमें, पालनेमें कितना कष्ट सहना होता है ? बच्चोंका खर्च भी जवान के खर्चसे कम नहीं होता है। अनेक कष्ट सहकर बहुत परिवार इकट्ठा किया। अब उनमेंसे निकल आया कोई उद्दण्ड, आज्ञा न मानने वाला, कोई निकल आया सताने वाला अथवा वह संतान कैसा ही हो, यह बुड्ढा अपनी कल्पना से दुःख ही सोचता हो तो अब उस लिप्साके फलमे जीरो ही रहा, आत्म-संतोष तो कुछ नहीं हो सका।

यशकी तृष्णा— मान लो किसीको यशकी चाह लग गयी तो यश पैदा करनेके लिए कितने श्रम करने पड़ते हैं ? अनेक लोग तो मायाचार करके मनमें कुछ है, वचनसे कुछ कहते हैं कि लोगोंको अपने आपकी सज्जनता दिखती है। किसी भी प्रकार छलसे, श्रमसे लोगोंको मनाकर और अपने गोष्टीके मित्रोंके हाथ पैर जोड़कर लल्लोचप्पो करके किसी तरह थोड़ासा यश सम्पादित कर लें तो अब तृष्णामें यशको बढानेके लिए लालायित रहते हैं। इतने लोगोंमें हमारी मान्यता हो, ऐसे यशवृद्धिके लिये अब नाना यत्न किए जा रहे हैं। अपने आपके आत्माकी सुधि भूलकर इस मायामय बाह्यजगत्को प्रसन्न करने की चेष्टाएं की जा रही हैं।

यशविरोधियोंके मुकाविलेका क्लेश—इस यशके बीच अनेक बाधाएं आती हैं, अनेक लोग मुकाबलेमें आते हैं, क्योंकि यशके प्रायः संसारमें सभी लोभी हैं। किसीके बढ़ते हुए यशको देखकर प्रसन्न हो सकने वाले विरले ही पुरुष होते हैं, अन्यथा तो सबकी यही इच्छा होती है कि मैं इससे अधिक यशस्वी होऊं। तब अपना यश बढ़ानेके लिए दूसरेके यशकी जड़ काटनेका यत्न करते हैं। यों अनेक पार्टियां बनती हैं, उनका मुकाबिला होता है। यह कष्टमय संग्राम किसलिए रचा गया ? एक यश पानेके लिए। अरे ! यश क्या कोई हाथमें धरकर दिखाई दे जाने वाली चीज है ? अरे ! जो गप्पें हैं, केवल बातें हैं, उनका ही नाम यश है। लोगोंने थोड़े प्रशंसाके शब्द बोल दिए, इसको लोग यश मानते हैं। इस यशकी होड़में कितनी बाधाए आती हैं, उनका मुकाबला करते हैं ये मोही जीव।

यशमें मलिनताकी प्रसिद्धि— यशकी धुनमें मुकाबला करके कोई कुछ सफल हो गया तो यशमें अपयश बहुत भरा रहता है। कविने बताया है कि 'यह चन्द्रमा यदि पूरा काला होता तो इसकी दुनियामें निन्दा न होती, इसे कोई कंलकी न कहता, पर चन्द्रमा है तो पूरा चमकता हुआ और उसमें थोड़ेसे काले धब्बे हैं।' इसलिए उसे कवि लोग कलंकी कहते हैं। अरे पूरा ही काला हो जाता तो भला था। कोई कलकी तो न कहता। कलंक तो वहां ही उत्पन्न हो जाता है, जहां बहुतसी स्वच्छता हो और सफेद कपडे पर स्याहीका धब्बा लग जाए तो उसकी आलोचना होती है। देखो क्या धब्बा लगा है और यदि काला ही सारा कपड़ा हो तो कौन आलोचना करे? जहां यश बढ़ता है, वहां अपयश भी साथ लगा हुआ है। लोग यशकी घुड़दौड़में आगे बढ़ना चाह रहे हैं। यशकी तृष्णासे अन्तमें मिलेगा क्या ? जीरो।

लोगोंमें प्रायः कृतघ्नताकी प्रकृति— अच्छा भैया ! निरखते जाइये

किसीके भी जीवनको। कोई परम उपकारी मनुष्य हो तो उसने जनताके उपकारके लिए अपना तन मन धन सब कुछ अर्पित कर दिया, पर इन सब फालतू ठलवा लोगोंको जीभ चलानेमें क्या लगता है? थोड़ा उनके विरुद्ध ही तो जरा कहना है। जिस किसी पुरुषको जिसको आप लोकमे सर्वप्रिय मानते हों, उसका भी नाम लेकर जरा १०० आदमियोंमे चर्चा तो करो। कुछ उनके विरुद्ध भी अपना भाव बताने वाले मिलेगे या नहीं। देशसेवामे प्रसिद्ध गांधीजी के गुण बखानने लगें, कोई १००-५० आदमियोके बीचमे तो कोई उनकी बुराई करने वाला भी मिल जाएगा। नेहरूकी बात कहो तो उनकी बुराई करने वाले मिल जायेगे। धार्मिक नेताओंमें किसीकी बात भी कहो, उसकी बुराई करने वाले मिलेंगे। कोई भी ऐसा सर्वप्रिय ऐसा नहीं है जो केवल यश यश का ही गढ़ा हुआ हो, जिसका यश दुनिया भरमे फैला हुआ हो।

यशकी तृष्णाका फल रिक्तता— यशके इच्छुकों! अपने यशके संभालकी चिन्तामे क्लेश भी भोगना होता है। यश बढ़ा लेनेमें जीवनमें जहां पचासों काम किए, उनमे ४५मे सफल हो गये, ५ मे असफल हुए तो फालतू लोगोके चित्तमें वे ४५ गुण घर नहीं करते हैं, किन्तु वे ५ अवगुण उनकी गोष्टियोंमें प्रसिद्ध हो जाते हैं। लो सारा जीवन तो जनताके उपकार मे और योग्य कार्योंमे लगाया तथा अन्तमें मिला अपयश। यशकी तृष्णा मे भी जीरो ही रहा अथवा मान लो यश ही रहा। प्रायः करके तो मरने पर यहांका यश परभवमे कुछ सहाय होगा क्या? वहां तो जैसा अन्तरंग मे परिणाम किया है, उस परिणामके अनुसार ही फल पाना होगा। किसी भी चीजकी तृष्णा करके सिद्धि नहीं पायी जा सकती है। किसी भी विषयमें तृष्णाकी बात ले लो, सबके लिए यह दृष्टान्त अच्छी प्रकार घटित है, विषयों की तृष्णामे भी घटित कर लो।

परिजनकी तृष्णाका फल रिक्तता— यह मनुष्य विषयतृष्णासे विवाह करता है। घर भरते, बड़े होते, अनेक समस्याएं सुलझाते व इस तृष्णाके ही फलमे अपनी सारी उमर व्यर्थ गंवा देते और बिल्कुल बूढ़े हो जाये, तब पता लगता है कि हमें फल जीरो मिला है, कुछ भी तो हाथ नहीं लगाता है। सभी अन्तमें जीरो ही फल अनुभव करेंगे। प्यासा मनुष्य यदि कुवा खोदे, उसमें भी शिला निकले और शिलाको भी किसी तरह तोड़कर निकाल दे और अधिक खोदने पर थोड़ासा पानी निकले, मगर वह भी खारा और कीड़ोंसे भरा, वह भी कुछ देर तक दिखाई पड़ा, फिर जल्दी ही सूख गया। उसे क्या मिला? ऐसे ही ये संसारके विषय, समागम वैभव ऋद्धियां

सिद्धियां हैं। कदाचित् ये थोड़ा ९९को मिल गये हैं तो भी उनके साथ लोग ही बसे हुए हैं। उनसे भी क्या मिला, कौनसी सिद्धि हो गयी ? लेकिन यह मोही जगत् और मोही मानव अपने आपका कुछ उद्देश्य न रखकर बाह्य विषयोंके लिए इतनी दौड़ लगा रहा है। धन्य हैं-वे क्षण, जिस क्षण यह जीव अपने आत्माके निकट बसनेका बैठनेका उत्साह बनाता है और यह दृढ़ विश्वास होता है कि ओह ! आनन्द और सर्वसमृद्धियां तो अपने आप के स्वरूपके निकट बसे रहनेमें हैं। बाह्यपरिकरमें, बाह्यसाधनोंमें बाह्य वस्तुवोंमें हम जितना रहें, बस, उतने ही उनमें हम व्यग्र होंगे, आकुल व्याकुल होंगे।

पौराणिक घटनाओंसे तृष्णाकी विफलताकी सिद्धि— विधिकी चेष्टा प्रबल है ? किसी पुराण पुरुषकी भी कथा देखलो, क्या किया था जिन्दगी जिन्दगी भर ? कौरव पांडव बड़े लाड़ प्यारसे पाले गए। बड़े हुए, राज्यके लिए लड़ाइयां हुई। कृष्ण जी बीचमें पड़े। क्या कौरवोंकी ओर जायें, क्या पाण्डवोंकी ओर आयें, क्या फैसला हुआ ? अधिक राज्य और सेना कौरवोंको दिया, श्रीकृष्ण पांडवोंकी ओर आये। क्या-क्या नटखट हुए ? अर्जुन ने यह सोचकर हथियार डाल दिये। कि मैं अपने बान्धवों को, नाते रिश्तेदारों को कैसे मार डालूँ ? कृष्ण उन्हें समझाने लगे, न जाने क्या-क्या खटपट हुए और युद्धके अंतमें फिर मिला क्या ? जीरो। न कौरवोंका कुछ रहा, न पाडवोंका कुछ रहा। जीते पांडव। सो विजयके बाद उन्हें हो गया- वैराग्य। वे पांचों पाण्डव सब कुछ छोड़कर चल दिये।

तृष्णासे हुए विवादमें बरबादी— भैया ! यहां भी तो सब नटखट देखते हो। सुना है ऐसा कि कलकत्तामें किसी न्यायालयके द्वार पर दो आदमियोंके फोटो हैं। एकके हाथमें कोरा कागज है और दूसरा भी रोता बिलखता है। दुखिया दरिद्र भेषमें है। हुआ क्या कि किसी बड़े सेठके दो लड़के थे। अपार धन था। बँटवारा हुआ। तो बटवारेमें जब झगड़ा होता है तो छोटी चीजपर होता है। बड़ी चीजपर लड़ाईका कोई सवाल ही नहीं पैदा होता है। दो लाख हैं तो एक-एक लाख बांट लिया। चार लाख हैं तो दो दो लाख बांट लिये। बड़ी चीज पर लड़ाई नहीं होती, लड़ाई तो छोटी सी चीज पर हो जाती है। तो उन दोनोंमें बांटते-बांटते अंतमें एक चबूतरे के कोने पर विवाद हो गया। चार अंगुल जमीनके पीछे झगड़ा हो गया, मुकदमा शुरू हो गया, कचेहरी चलने लगी। दोनोंकी सारी जायदाद बरबाद हो गयी। अन्तमें दोनोंके पास कुछ भी न रहा और एकको एक विजयपत्र मल गया। मिल गया एक कागज और तो कुछ रहा नहीं, क्योंकि दोनोंका

सब खर्च हो गया। क्या मिला तृष्णामें आकर? शून्य। जिसे यहां बहुत कुछ मिला हो वह भी अन्तमें रीता ही रहता है। इस लोकमें किसी भी बात पर अहंकार करना व्यर्थ है। कौनसी श्रेष्ठ वस्तु मिली है? किस पर इतराते हो? कलका तो पता नहीं, क्या होगा, कल यह समागम रहेगा या न रहेगा, हम भी रहेंगे कि न रहेंगे, इसका कुछ पता नहीं, पर यहां शेखचिल्लीपन कितने किए जा रहे हैं?

तृष्णामें शेखचिल्लीपन— एक मूछमक्खन नामका आदमी था। वह दरिद्र था। वह यहां-वहांसे भीख मांग लाये और उसे खा पीकर अपना पेट भरे। एक बार श्रावकके यहां उसने मट्ठा पिया तो उसके मूछोंपर मक्खन लग गया। मूछ पर हाथ फेरा तो निकला मक्खन। सोचा कि रोज इसी तरह दसों बार श्रावकोंके यहां मट्ठा पियें और मूछपर हाथ फेरकर मक्खन निकालें तो कुछ ही महीनोंमें काफी घी इकट्ठा हो जायगा। किया भी उसने ऐसा ही। दो वर्षमें ही उसने तीन चारसेर मक्खन जोड़ लिया। उससे घी बना लिया। जाड़ेके दिन थे। झोपड़ीमें रहता था; एक छींकेपर डब्बा लटका था, नीचे आग जल रही थी, आगके किनारे पड़ा हुआ वह मंसूबे बना रहा था। कल दिनमें बाजार जाऊँगा, घी बेचूँगा तो दस रुपये तक आ जायेंगे। दस रुपयेका खोंचा लगाऊँगा चालीस, पचास रुपये हो जायेंगे तो एक बकरी खरीदूगा, फिर गाय भैंस खरीदूंगा, बैल खरीदूंगा। फिर जायदाद खरीदूंगा, फिर मकान बनवाऊँगा, शादी कर लूँगा, बच्चे होंगे। एक बच्चा बुलाने आयेगा— चलो दद्दा माने रोटी खानेको बुलाया है, ऐसा कहेगा तो मैं मना कर दूंगा। दूसरी बार बुलाने आयगा तो मैं कह दूगा कि चल हट अभी मैं नहीं जाता। तीसरी बार बुलाने आयेगा तो यों लात मारकर कहूंगा—चल हट, अभी मैं न खाऊँगा। इतने में उसकी लात छींके पर लगी। घी का डब्बा गिर गया आग पर और सारा घी जल गया, झोपड़ी जलने लगी।

कल्पनाका क्लेश— अब वह मूछमक्खन बाहर निकलकर चिल्लाता है— दौड़ो रे भाइयों! मेरा घर जल गया, मेरी स्त्री बच्चे जल गये, मेरे जानवर जल गये, मेरी सारी जायदाद जल गयी। लोग सुनकर आश्चर्यमें पड़ गये। सोचा कि अभी कल तक तो यह भीख मांगता था और आज इस तरहसे कहता है। तो एक सेठ जी पास आकर बोले— अरे कहां कौन जला जा रहा है? क्यों रोता है? कल्पना से ही तो उसने सारी बात बतायी। सेठ जी ने कहा कि कुछ मिटा तो नहीं, केवल तू कल्पनाएँ ही तो कर रहा था। तो दूसरा कोई समझदार व्यक्ति सेठ जी से कहने लगा— अरे तुम्हारे पास भी क्या है, कुछ भी तो तुम्हारा नहीं है, केवल कल्पना ही तो बनाए हो

कि यह मेरा है, मेरे पास इतना यह है। अरे इसमें भी तो तुम कल्पना ही बना रहे हो।

तृष्णामें सुखकी असिद्धि—भैया! हैं सभी पदार्थ तुमसे अत्यन्त जुदे, पर तुम उन्हें कल्पनासे ही तो अपना मान रहे हो। इन पदार्थोंकी तृष्णा करके कोई संतोष नहीं पा सकता है, न तृष्णा किसी की पूर्ण हो सकती है। तृष्णावान् पुरुष तृष्णा कर करके ही मरेगा, संतुष्ट होकर न मरेगा। इससे दैवयोगसे जो कुछ भी प्राप्त हो उसही में वँटवारा और गुजारा करना और सुगम स्वाधीन जो अपना धर्म है उस धर्मके पालनकी दृष्टि रखना, बस यही निर्णय है, इसके खिलाफ चले तो जीवन सुखमय न रह सकेगा।

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥

शुद्ध धनसे सपदाका अभराव— जिसे अपना हित चाहना हो उस गृहस्थको मनमें यह कल्पना न रखना चाहिए कि मैं सम्पदाको बहुत कमाऊँ और बढाऊँ। ये लौकिक वैभव अर्जित पुण्यके अनुसार उपलब्ध होते हैं, पहिली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि सम्पदा अधिक होने से सुख अथवा शान्ति हो जाय, ऐसा नियम नहीं है। तीसरी बात यह है कि कोई सम्पदा को बढानेका मनमें भाव रक्खे, अपने जीवनका एक यही लक्ष्य रक्खे तो उसकी प्रवृत्ति, न्यायरूप न रहकर अन्यायरूप बनेगी। इसका कारण यह है कि न्यायके आचरण कर उपार्जित जो धन है उससे बड़ों-बड़ों के भी सम्पदा नहीं बढ़ती है। क्या कभी स्वच्छ जलसे समुद्र भी पूर्ण होता हुआ किसीने देखा या सुना है? समुद्रमें कितने जलका ढेर रहता है? यह जलका ढेर गन्दे जलों से भरी हुई नदियोंसे आया है। निर्मल जलकी ही नदियोंसे समुद्र कभी नहीं भरता। ऐसे ही जो जान बूझकर, जीवनका लक्ष्य बनाकर धनका संचय किया जाता है वह न्यायपूर्वक धनसे संचय नहीं हो सकता।

संपदावृद्धिकी धुनमें अन्यायका आलम्बन— उक्त कथनका यह भी मतलब नहीं है कि जिनके धन बढ़ता है वे सब अन्यायसे धन बढ़ा पाये हैं, किन्तु जो अपने जीवनका लक्ष्य धनको बढ़ाना ही रखते हैं उनसे न्यायकी प्रवृत्ति न होगी। वे अन्यायकी प्रवृत्ति करके धनका संचय करेंगे। अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही हैं। योग्य आचरण करके उपार्जित किया हुआ जो धन है उस धनसे सम्पदाकी विशेष वृद्धि नहीं होती है। इस कारण धनकी तृष्णाको तजकर अपने जीवनको धर्ममय और निष्परिग्रहताके साँचे

में डालना चाहिए। पूर्वकालमें चक्रवर्ती तीर्थंकर, सम्राट, मंडलेश्वर और भी बड़े बड़े धर्मात्मा सेठ लोग हुए हैं। वे अन्यायसे धन पैदा करके हुए हैं ऐसी बात न समझना, उदयानुसार स्वयमेव प्राप्त होता है। कल्पना करो किसी बालकको किसीने गोद ले लिया तो गोद लेते ही वह लखपति हो गया, उसने क्या अन्याय किया जो इतना धनी हो गया। अथवा किसी धनिकके यहां कोई बालक पैदा हुआ, उसने क्या अन्याय किया जो धनिक हुआ ? लेकिन जो मनमें यह तृष्णा रखते हैं, आकांक्षा रखते हैं कि मैं बड़ा धनिक बनूं और सारे जगत्में अपना नाम प्रसिद्ध कर दूं, मेरा यश बढ़े, ऐसा परिणाम कोई रखता है तो वह अन्यायसे धन कमायेगा। जिस किसी भी प्रकार हो, अपना घर भरेगा।

अन्यायार्जित धनके सदुपयोगका अभाव— अन्यायसे उपार्जित धन से कभी शांति नहीं हो सकती और वैसे भी देखा होगा, जो अन्यायसे धन कमाता है उसका द्रव्य योग्य कार्योंमें खर्च नहीं हो पाता है और जब धन नहीं रहता है तो व्यसनोंके और पापोंके अनेक रास्तोंसे धन निकल जाता है। लोग यह कहते हैं कि अन्यायकी कमाईका पैसा योग्य सुकृतमें और धनमें नहीं लगता। उसका मर्म यह है कि जिस पुरुषने अन्यायका परिणाम बढ़ा कर धन कमाया है, उस पुरुषमें धार्मिक जगहमें दान देनेका परिणाम ही नहीं हो सकता है। न्यायप्रवृत्ति रखने वाले पुरुषके ही ऐसा परिणाम होगा कि मैं योग्य कार्योंमें दान भी दूं।

अन्यायसे उपार्जित धन ठहरता भी नहीं है। नीतिशास्त्रमें कहा है कि अन्यायसे उपार्जित धन तीन वर्षमें, तीन माहमें या अधिकसे अधिक १२ वर्ष तक रहता है, अधिक काल नहीं रहता है। फिर यह भी परखिये कि धन भी बहुत बढ़ गया तो इससे आत्मामें उन्नति कौनसी हो गयी ? शुद्ध आनन्द और शांति हो, उसे उन्नति कहते हैं।

आंखों देखते धनका अनुपयोग— अन्यायसे उपार्जकोंके योग भी ऐसा लग जाता है कि उस अर्जित धनको दान करना चाहते हुए भी लोग दानमें नहीं लगा पाते। एक सेठ था। उन्होने अनाप सनाप तड़ाक फड़ाक काफी धन कमा लिया। वे ५ लाखकी सम्पत्तिके धनी हो गये। उनके चार बेटे थे। उनमें आपसमें बड़ी कलह मची रहती थी। सब न्यारे न्यारे भी हो गये। एक एक लाख रुपया बांट भी लिया। उस सेठने एक लाखका धन सोना चांदी रत्नोंके रूपमें भींतमें गाड़कर रक्खा। पहिले जमानेमें भींत व जमीन एक सुरक्षित तिजोरी मानी जाती थी।

सेठ बीमार हो गया। मुँह बोल बन्द हो गया, किन्तु कानोंसे सनाई

रहा था। अन्तिम दिन थे, अभी समझ बराबर चल रही थी। पंच लोग जुड़े। पंचोंने कहा कि सेठ जी अब तो तुम्हारा अन्तिम समय है, कुछ दान पुण्य कर जावो। सेठके मनमें आया कि जितना धन बचा है, उतना सब पंचोंको सौंप दूं। ये किसी अच्छे काममें लगा देंगे। सेठजीका बोल तो बन्द था ही, सेठजी हाथोंके इशारेसे कहते हैं कि जो कुछ इस भींतमें रक्खा है, वह सब तुम्हें दिया। तुम जहां चाहो लगाओ। पंच लोग इशारेका कुछ भी मतलब न समझ सके। उन्होंने बेटोंसे पूछा कि तुम्हारे पिताजी क्या कह रहे हैं? लड़के तो सब जानते ही थे, वे बोले कि पिताजी कह रहे हैं कि हमारे पास जो कुछ था वह इस भींतमें लगा दिया, अब कुछ भी पास नहीं रहा। यह सुनकर सेठ मन ही मन कुढ़ता जाए, पर कुछ बोल न सके। वह सेठ मनमें कुढ़ता है कि हम तो चाहते हैं कि दान करें, पर ये लड़के जानबूझ कर कितना कपट करके उलटा अर्थ बता रहे हैं।

दुर्लभ मानवजन्मके सदुपयोगका अनुरोध— भैया! मुख्य बात यह है कि यह मनुष्यजन्म बड़ी दुर्लभतासे मिला है। सीधा ही अन्तर देख लो कि कीड़े मकौड़े, पशु पक्षी सब टें टें चें चें करते हैं। ये न शरीरकी सजावट कर सकते हैं, न अपने रहनेको मकान महल तैयार कर सकते हैं, न दिलकी बात किसी दूसरेको बता सकते हैं, न दूसरेकी बात समझ सकते हैं, किन्तु मनुष्यभव देखो कि कितना विकसित भव है? कितनी विधियोंसे खाना पकाना, कैसे ढंगसे खाना, मनकी बात दूसरोंको बताना, दूसरेकी बात खुद समझना, बड़े बड़े साहित्य लिखना, उपदेश करना, मोक्ष मार्ग पर चलना—ये सब बातें मनुष्योंमें सम्भव हैं। कितने विविष्ट साधन हैं इन मनुष्योंको। मनुष्यजीवन मिला है तो इसका लक्ष्य ऐसा बनाओ कि जो अब भी शांति दे और भविष्य कालमें भी हम सबको शांति मिले। यह सब उपाय है सम्यग्ज्ञानका।

ज्ञानबलका प्रबल साहाय्य— एक यथार्थ ज्ञान वर्त रहा हो, फिर चाहे कहीं कुछ बीत रही हो, इसको क्लेश नहीं हो सकता। ज्ञान यथार्थ नहीं है तो अनुकूल बात मिले वहां भी क्लेश और प्रतिकूल बात मिले तो वहां भी क्लेश। इस कारण परिग्रहकी वांछा श्रद्धा चित्तमें न करें। इतनी हिम्मत यदि बन सकती है तो धर्मपालनका दम भरिये। जैसे गृहस्थोंमें इतना साहस हो कि जो भी स्थिति आये, हम किसी स्थितिसे घबड़ायेंगे नहीं। कठिनसे कठिन परिस्थितियोंसे या आर्थिक स्थिति कम होनेसे न घबड़ायेंगे। जिसके यथार्थ ज्ञान नहीं है, वही कठिन स्थितियोंसे घबड़ाता है। सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ गरीबीमें यों नहीं घबड़ाता कि जैसे भी स्थिति हो, उसके माफिक अपनी चर्या

बना लेगा। जितनी आयु हो उसके माफिक अपना बजट बनानेमें क्लेश नहीं है, किन्तु अपनी कल्पनाओंमें शौक शानके बढ़ावे सहित बजट तो बढ़ालें और आय न हो तो उसे रात दिन क्लेश रहता है। शुद्ध विधिसे धन कमा कर सम्पदा नहीं बढ़ती है। इसलिए यह सम्पूर्ण धन हमारे लिए अहितकर है—ऐसा जानकर इस ग्रन्थमें साधु जनोंके लिए कहा जा रहा है कि या तो निष्परिग्रही रहो या जो साधुता ग्रहण करनेके पात्र हैं, उन्हें कहा जा रहा है कि तुम निष्परिग्रही बनो।

परिग्रहकी क्लेशहेतुता— परिग्रह चिन्ता और शल्यका कारण होता है। परिग्रहके कारण ही नाना क्लेश सहने पड़ते हैं। एक राजाको वनमें जाते हुए नग्न दिगम्बर साधु मिले। उन्हें देखकर राजाको दया आयी। देखा कि बदन पर कपडे भी नहीं हैं, नंगे पैर हैं, सिर पर बड़ी तेज धूप पड़ रही है, बड़ी तकलीफ है। राजाने कहा कि महाराज! तुम क्यों तकलीफको सहन कर रहे हो? हम तुम्हें जूते बनवा दें। आपके पैरोंकी तो जलन बच ही जायेगी। साधुने कहा कि अच्छा बनवा दो, पर जूता तो पहिन लेंगे, फिर सिरका क्या हाल होगा? तो राजा बोला कि महाराज! एक छतरी भी दिला देंगे। ... और जो शरीरमें लू लगती है उसके लिये क्या होगा ... ? महाराज! रेशमके कपड़े बनवा देंगे ...। फिर तो हमसे पैदल भी न चला जा सकेगा ...। तो महाराज! एक मोटरकार दे देंगे ...। फिर आहार की क्या विधि होगी? तिष्ठ तिष्ठ कौन कहेगा ...? तो महाराज! शादी करवा देंगे। बहू आ जाएगी तो वह रोटी बनाकर खिलायेगी ...। तब तो और खर्च बढ़ेगा महाराज ...! ५ गांव और लगा देंगे ...। बच्चे होंगे, उनके शादी विवाहमें खर्च होगा ...। तो महाराज! दस गांव और लगा देंगे ...। और उनमें कोई मर जाएगा तो रोना भी पड़ेगा ...। महाराज और तो सब कर सकते हैं, पर रोना तो उसे ही पड़ेगा जो उन सबसे ममता करेगा ...। तो हमें ऐसे जूते नहीं चाहियें, जिन जूतोंसे रोने तककी नौबत आ जाए।

धर्मपालनका साहसी— भैया! धर्मपालनकी हिम्मत वही कर सकता है जो मूलसे परिचित हो व सब मनुष्योंको अपरिचित समझता हो। दृश्यमान्से ये सब अपरिचित हैं। ये जीव सब चैतन्यस्वरूप हैं। ये जो भी रूप धारण करते हैं वे सब मायारूप हैं, सब नाटक खेल रहे हैं। जैसे नाटकमें लड़का तो किसी धनी सेठका है, पर कभी भिखारीका रूप बनाता है, कभी राजाका रूप बनाता है। इसी प्रकार हम आप कभी मनुष्यभवमें आते हैं, कभी तिर्यंच, नारकी, देव आदि गतियोंमें आते हैं। तो नाटकमें जो सेठका

लड़का भिखारी बनकर आया। उसे जो जानते हैं कि यह अमुक सेठजीका लड़का है, उन्हें उसको देखकर रंज नहीं होता है, क्योंकि उनके मनमें यह विश्वास है कि यह दुःखी नहीं है, यह तो धनीका लड़का है, नाटक खेल रहा है और जिसको यह पता नहीं है, इस ओर जो दृष्टि नहीं रखता कि यह तो बड़े सेठका लड़का है, नाटक खेल रहा है। यह तो ध्यानमें न हो और जो रूप रखकर उस नाट्य मंच पर आया हो, उसी रूपसे उसे देखें तो उसके दुख भरे स्वरको सुनकर उसे रंज होता है, उसके आंसू भी आ जायेंगे। ऐसे ही जिन ज्ञानी पुरुषोंको यह परिचय है कि ये सब चैतन्य राजा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, ये तो नाटक खेल रहे हैं। कभी मनुष्यभवका बाना रक्खा, कभी देवगतिका और कभी पशु पक्षी का, ये तो सब नाटक हैं। इस प्रकार के जाननहार पुरुषको इन मनुष्योंको निरखकर भी हर्ष विषाद न होगा। वह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहेगा। ठीक है, आज यह परिस्थिति है।

पर्यायबुद्धनामें मूढ़ता— भैया! जो नहीं जानते हैं जीवोंके अन्तरंगमें बसने वाले मर्मको वे जरा जरासी बातोंमें अपना सम्मान और अपमान महसूस करते हैं। कोई पहिलेसे राम राम न कर पाया तो बाबू साहब यह समझते हैं कि इसने मेरी बेइज्जती की, मेरा सम्मान ही नहीं किया। यह इस प्रकारसे क्यों सोचता है? क्योंकि इसकी भी बुद्धि पर्यायमें ग्रस्त है। अरे, रामराम न की, न सही, क्योंकि वह अज्ञानी है, वे स्वतंत्र हैं, उसने न की तो पहिले हम करलें। ज्ञाताद्रष्टा रहता है ज्ञानी। यह तो एक मायाका स्वरूप है, परमार्थभूत कुछ नहीं है। अपने जीवनका लक्ष्य धनका जोड़ लेना मत समझो। इस लक्ष्यका फल बुरा होगा। आना है तो आयेगा, उसमें व्यवस्था बना लो। कर्तव्य तो यह है कि जो कुछ मिलता है आपको, उसके भीतर ही व्यवस्था बना लेनी चाहिए। जितनी भी बन सकती हो, यह तो है विवेक, बुद्धिमानी और अपने मनको अधिक उद्दण्ड बनाकर अधिक खर्च करना, आवश्यकताकी कल्पना करके फिर तृष्णा करना, चाह बढ़ाना ही लाभदायक बात नहीं है।

जीवका सही बड़प्पन— बड़प्पन जीवका धर्मसे होता है, धनसे नहीं होता है। धनसे माना हुआ बड़प्पन तो स्वप्नका दृश्य है, वास्तविक बड़प्पन नहीं है। अपने आपके आत्मस्वरूपका ज्ञान हो और इसी शुद्ध स्वरूपका विश्वास हो। जैसे कि जाना है कि यह मैं केवल ज्ञानमात्र हूं। सो ऐसे ही ज्ञातामात्र रहनेका यत्न करें, उससे आत्माका इतना बड़प्पन होता है कि फिर तीनों लोकके इन्द्र भी आकर उसकी सेवा करेंगे। आपके घरमें कई बालक हैं, उनमें जो बालक मांग मांग कर खाते हों, उन पर आपकी दृष्टि भी

विशेष भली न होगी। जो बालक मना मनाकर दिया जाने पर भी थोड़ा ही लेते हों, उसका आप सम्म न अधिक करेंगे और ख्याल भी अधिक करेंगे। ऐसे ही ये सब वैभव मांगनेसे याने तृष्णा करनेसे, आशा रखनेसे, श्रम को करनेसे नहीं आते हैं। पुण्य गांठमें हो, उदय अनुकूल हो तो ये सब आ ही जाते हैं।

विवेकबुद्धिसे लाभ-- नारियलके पेड़में फल देखो कितने ऊंचे लगते हैं, पर उनमें पाव डेढ़ पाव पानी कहांसे आ जाता है? ऊपरसे उसका कितना कठोर छिलका होता है, फिर भी पता नहीं पड़ता कि वह पानी कहां से आ जाता है? लोग उस पानीको निकालकर पीते हैं। आप बताओ कि उस नारियलमें पानी कौन डालने आया? किस जगहसे वह पानी निकल कर आया, उसमें कोई स्रोत ही नहीं है। तो जैसे नारियल में पानी स्वयं आ गया, कुछ स्रोतका भी पता नहीं है। ऐसे ही पुण्यके उदयके फलमें ये सर्वसमागम यों आ जाते हैं कि उसके स्रोतका कोई प्रोग्राम भी तो नहीं बन पाता। कैथको हाथी खा जाए और फिर लीद करे तो पूरा कैथ निकल आता है। वजन तोलो तो मुश्किलसे दो तोला निकलेगा। जब खाया था तब पाव भर का था। उस कैथमें कहीं छेद या दरार भी नहीं है, पर यह सारा रस भी कैसे निकल गया? ऐसे ही पापका उदय आने पर यह वैभव यों ही नष्ट हो जाता है। इसकी ओर दृष्टि न दो। इस प्रसंगमें तो यही निर्णय रक्खे कि जो समागम जुटेंगे, मिलेंगे, उसमें ही अपनी व्यवस्था बनाये और शक्ति हो तो सकल परिग्रहोंका त्याग करके साधुताके जीवनको निभाकर उसमें आत्मीय आनन्द लूटें। मनुष्यजीवनको धर्मपालनमें ही लगाकर सफल करना अपना परम कर्तव्य है।

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाऽज्ञानं सा गतिर्यत्र नाऽगतिः ॥४६॥

धर्म वह है जहां अधर्म नहीं है। सुख वहां है जहां दुख नहीं है। ज्ञान वहां है जहां अज्ञान नहीं है और गति वहीं है जहांसे फिर कभी आना नहीं होता।

अधर्मके अभावमें ही धर्मका सद्भाव— जिन प्रकृतियोंमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका पाप है। वे सब प्रवृत्तियां अधर्म हैं। जहां अधर्मका सम्बन्ध है, वहां धर्म नहीं है। धर्मके पात्रके सम्बन्धमें नीतिकारने कहा है—

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'

धर्मका आचरण वही पुरुष कर सकता है, जिसके यह बुद्धि है कि मृत्यु

मेरे सर पर ही मढ़ी हुई है। किसी भी क्षण यह मृत्यु इस प्राणीको प्राणका वियोग करा देगी। अपने जीवनमें भी जब कभी कठिन बीमारी आयी होगी तो प्राय सबको आयी है। ऐसी भी स्थितियां हुई हैं, जहां जीनेका भी संदेह रहा था। परिजनोंने तो निर्णय भी कर लिया था कि अब यह जिन्दा नहीं रह सकता। कोई रोगी हुआ, कोई दंगेमें फंसा, कोई अग्निमें फंस गया तो कोई जलमें डूबते बचा, इस प्रकारकी अनेक स्थितियां हुई हैं। जब कि जीवन रहनेको ही न था, उस समय हम आपने कुछ धर्मकी ओर दृष्टि दी थी। पुन त्या कुछ विवेक होता है तब यह सद्बुद्धि आती है कि मैं यदि अबकी बार बच गया तो खूब जीवनभर धर्म करूँगा। ज्ञान और वैराग्यसे ही वास्ता रक्खूँगा, लेकिन कर्मोंकी विचित्रता देखो कि ठीक हुए और कुछ दिन गुजरे फिर धर्मकी सुध नहीं रही।

विपत्तिमें धर्मके ख्यालकी प्रकृति— एक मनुष्य नारियलके पेड़पर चढ़ गया। चढ़ तो गया बहुत ऊंचे, किन्तु चढने पर जब नीचे देखता है उतरनेके लिए तो बड़ा भय लगता है। हाय अब कैसे उतरा जायगा? सो वहां चढ़ा हुआ मनमें कहता है कि यदि मैं उतर जाऊं तो १०० ब्राह्मणोंको खिलाऊंगा। ब्राह्मणका अर्थ है जो ब्रह्मस्वरूपको जानें। न जानें उनकी बात नहीं है। व्रती पुरुष त्यागीजन ज्ञानी पुरुष ये सभी ब्रह्मस्वरूप हैं। अब तो ब्राह्मण जाति कहलाती है। कुछ उसने हिम्मत बनायी तो खिसक कर कुछ नीचे आ गया। अब मनमें सोचता है कि १०० तो नहीं, पर २५ को तो जरूर खलाऊंगा। जब और नीचे उतरा तो सोचता है कि २५ को तो नहीं, पर को जरूर खिलाऊंगा, और जब बिलकुल नीचे उतर आया तो सोचता है-वाह, उतरे तो हम हैं, खिलाना किस बातका? ऐसी प्रकृति होती है मनुष्य की जब किसी विपत्तिमें फंस जाता है, प्राणोंका भी संदेह है तो वहां यह धर्म की सोचता है। पर जैसे ही समय गुजरा कि ज्योंका त्यों होने लगता है।

पापोंकी आत्मवैरिता— पापके कार्य इस जीवको सुखके कारण तो होते ही नहीं हैं। किसीका दिल दुखानेका; झूठ, चोरी, कुशील आदिका परिणाम भी करें तो उसमें ही क्लेश होने लगता है। जहां अधर्म नहीं रहा उसे ही धर्म कहते हैं। धर्मका परिचय अधर्मके अभावसे करना। हम कितना पूजन करते हैं और कितनी देर मंदिरमें झांझें बजाते हैं उससे धर्म का अनुपात न लेना। वह तो धर्मका साधन है, किन्तु मेरे क्रोध इतना कम हुआ, मान, माया, लोभ आदि इतने कम हुए हैं, इससे धर्मका अनुपात लेना। मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ ये ५ और लोभका ही एक भेद है काम, इस प्रकार जीवके ये ६ वैरी हैं।

मोहका वैरीपन— मोह करना है क्या ? अत्यन्त भिन्न पदार्थ चेतन व अचेतन परिग्रह हैं उनसे अपना हित मानते हैं, अपना बड़प्पन समझते हैं, लोग उनमें ही अहंकार और ममकार करते हैं यह सब मोह है। यह मोह-पिशाच इस जीवको निरन्तर बरबाद किए जा रहा है। जहां मोह है वहां धर्मका वास नहीं, धर्मकी मान्यताका संतोष न करे। धन बढ़ानेके लिए, परिजनों को सुखी रखनेके लिए भजन पूजन, तप कुछ भी धर्मके कार्य किए जायें वे धर्म हैं ही नहीं। उनका उद्देश्य ही अधर्मरूप है। कहीं लड़ाई हो जाय आपसमें और ठान ले उपवास लड़ाईकी वजहसे तो ऐसा उपवास करना क्या धर्म हो गया ? क्रोध भी किया, दिल भी दुखाया, भूखों भी मरे; ऐसे ही समझिये कि अपने विषयसाधनोंके लक्ष्यसे कुछ भी धार्मिक कार्य किया जाय, वह धर्म नहीं कहला सकता।

धर्मका संवास— मेरा मोह दूर हो, इसके लिए जो निर्मोह ज्ञान-स्वरूपकी दृष्टिकी जाती है वह धर्म है। मेरी कामवेदना समूल समाप्त हो, इस ध्येयसे जो निष्काम ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वकी उपासनाकी जाती है वह धर्म है। मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ दूर हो, एतदर्थ कषाय-रहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी जो उपासना की जाती है वह धर्म है।

विभावविडम्बनायें— मोहकी विडम्बनासे यह ससार विडम्बित हो रहा है। अनाप-सनाप अपनी कल्पनाएँ बनाते हैं, फल कुछ नहीं होता, मिलता जुलता कुछ नहीं है, केवलकष्ट ही भोगता है। कामकी पीड़ामें यह पुरुष अपने स्वरूपका होश खत्म कर देता है जहां अपवित्र देह रुचने लगा हो वहां कौन इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी सुध ले ? इस कामवासनामें यह जगत बरवाद हो रहा है। क्रोधको तो लोग चांडाल कहते हैं। तीव्र क्रोध करने वाला पुरुष लगता भी भयंकर चांडाल जैसा है। क्रोधकी स्थितिमें मुखमें सुन्दरता नहीं रहती है, न हाथ पैरोंमें धैर्य रहता है, न गम्भीरता रहती है। हृदय विवेकशून्य हो जाता है। क्रोधको लोग चांडाल कहते हैं।

क्रोध चाण्डाल— एक साधु बाबा रास्तेमें ध्यानस्थ बैठे थे। उनके सामनेसे निकली एक भंगिन। वह सामने खड़ी हो गयी तो साधु कहता है अरी तू परे हो जा। वह न हटी। साधु बड़े गुस्सेमें आकर जब ऐसा पुनः बोलता है तो भंगिन कहती है—तुमने हमारे पतिको अपने घरमें क्यों रख छोड़ा है ? साधु सोचता है कि न मेरे घर और न इसके पतिसे मेरा कोई वास्ता, पर यह इस तरहसे कह रही है। कुछ विवाद तेज हो गया, लोग जुड़ आये। लोगोंने उसका मर्म जानना चाहा, तो मर्म क्या निकला कि साधुने अपने हृदयरूपी गृहमें क्रोधरूपी चांडाल बसा रखा है। तो उसने

कहा कि साधु महाराज, पहिले इस क्रोध चाण्डालको अपने हृदयसे निकाल दो। क्रोधको चांडाल कहा है।

मोह और कपायभावोसे अनर्थ— खूब सोचते जावो क्रोधसे क्या सिद्धि होती है? जो विरोधी हो। अपनेको रुचता न हो, उसके सम्मुख भी क्रोध न करे। शान्तिसे बात कर सके तो इसमें कुछ लाभ है। कचहरीमें वकील लोग एक यह भी अपना हाथ खेलते हैं कि कोई ऐसी औंधी बात कह दे कि दूसरे वादी के वकीलको गुस्सा आ जाय। गुस्सा आ जाने पर फिर ढंगसे बात न कर सकेगा। उसकी बुद्धि सब उड़ जायगी। क्रोधकी स्थितिमें बुद्धि काम नहीं देती है। बड़ोकी यह महंतता है कि क्रोध जैसी स्थितिमें भी अपने आपको समाधानरूप रख सकें। जीवनमें धर्मका शरण लिए बिना शांति हो नहीं सकती, पर धर्मका अर्थ मोह और कषाय नहीं होता है। और सत्संग, देवदर्शन और भी जितने काम किये जाते हैं, वे सब मोह और कषायको दूर करनेके लिए किये जाते हैं। मोह होनेसे पुण्य घटता है, पाप बढता है। यों ही क्रोध करनेसे पुण्य क्षय होता है, पाप आगे आता है। तो कषायके करनेसे लौकिक सुख भी नहीं मिलता है और आध्यात्मिक आनन्द भीनहीं मिलता है।

मोहमें वास्तविक विश्रामका अभाव— भैया! यों मोहका ही तो कारण है कि चाहे कुछ भी मिल जाये, घरमें कितनी भी सम्पदा हो जाए, मगर सुखसे नहीं रह सकते हैं। जो कुछ पाया है उसका भी मौज नहीं ले सकते हैं। जिसे जो मिला है, उसका चौथाई ही पहिलेसे होता तो क्या गुजारा न किया जाता? जो कुछ भी मिला है उसे जरूरतसे अधिक जानों। ऐसा अपना विश्वास बनाओ तो शान्तिकी गैल मिलेगी, यह मूल बात है। जो भी मिला है उसे जरूरतसे अधिक जानों। दूसरोंके शान शौकको देखकर अपनी इच्छा बढाना और इस मायामय स्वप्नवत् काल्पनिक सुखमें मौज मानना तो केवल क्लेशका ही मार्ग है। सबसे आंख मींचकर अपना उपयोग हटाकर अपने आपके इस ज्ञानउपवनमें विहार करने लगे तो शुद्ध आत्मीय आनन्द प्रकट होगा। धर्म ही आनन्द को देने वाला है। जहां अधर्म न हो, वहां धर्म समझिये।

विषयसुखोंकी असुखरूपता— सुख भी वहीं है जहां क्लेश नहीं है। संसारके ये विषयजन्य सुख सुख यों नहीं कहलाते कि इनमें पहिले भी दुःख भरा है। वर्तमानमें भी दुःख है और आगामीकालमें भी दुःख होगा। दुःखी होते जाते हैं और भ्रमसे सुखी मानते जाते हैं। जैसे लालमिर्चका लोभी सी-सीभी करता जाता है, उसे उसी वेदनामें मौज आ रहा है। यों ही विषयोंके

लोभी विषयोंके सेवनमें बहुत ही क्षुब्ध होते जाते हैं। अनेक तरहसे अपमान और पराधीनताके क्लेश भी सहते जाते है, फिर भी उनमे ही मौज मानते हैं।

देवभक्तिकी व गुरुभक्तिकी पात्रता— भैया ! यदि शुद्ध ज्ञान और वैराग्यके मार्गकी रुचि न जगी तो देव और गुरुओंका मानना केवल ढकोसला है और एक तरहकी तफरी भर है, मन बहलावाभर है। जिस देवको हम मानते हैं, उस देवने क्या किया? निष्परिग्रह होकर केवल आत्मध्यान करके सर्वज्ञता पायी। ऐसे ही मार्गको हम अपने लिए न चाहें और परिग्रह की तृष्णा ही करते रहें तो हम उस देवके भक्त कैसे कहे जा सकते हैं? हम गुरुवोंकी सेवा भी करते जायें और चित्तमें यह भी सोचते जायें कि इन बेचारोंके न मां बाप है, न कोई हैं। इनको तो हमीको संभालना है। अपनेसे हीन मानते जायें, नमस्कार भी करते जायें, सेवा भी करते जायें, किन्तु धन वैभव परिजनके कारण अपनेमें वैभवका अहंकार बसाये हों तो उन्हें गुरुभक्त नहीं कहा जा सकता है। ऐसा कोई विचार हो कि हम गृहस्थ पंक मे फसे हैं। यह उन्नतिका मार्ग नहीं है। ये गुरुजन अनेक झंझटोंसे निकल कर एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए प्रयत्नशील हैं। इनका महान् जीवन धन्य है। मेरी भी यही स्थिति हो-ऐसी भावना जगे तब तो गुरुभक्ति कही जा सकती है।

मुग्धप्रसंगका कारण— ये प्रभु जिनकी हम रोज पूजा करते हैं, ये अनन्त आनन्दमें मग्न हैं, क्योंकि इनका आनन्द स्वाधीन है। किसी भी वस्तुके प्रति मोह रागद्वेष इनके नहीं है। पूर्ण शुद्ध निष्कलंक ज्ञानपुञ्ज हो गये हैं। वही स्वरूप हम आपमें सामर्थ्य है, क्योंकि स्वरूप वही का वही है जो प्रभुका है। प्रभुके निकट न जायें और इन मोही जीवोंमें ही घुसे रहें तो क्या यह कोई विवेककी बात है? उन मोही अज्ञानी जीवोंमें ही तेरी रुचि जगती है तो यही तुझपर बड़ी विडम्बना है, यही वास्तविक विपदा है। सुबुद्धि पैदा कर। तू सुबुद्धिस्वरूप ही है, परन्तु विषयोंकी अभिलाषा जग गयी सो सारी बुद्धि उल्टी हो गयी। ये विषय भिन्न चीज हैं, तू इनकी अभिलाषा क्यों करता है? तू स्वतन्त्र है, तू अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपमात्र है। उस स्वरूपको निरख तो अनन्त आनन्द मिलेगा।

विषयसुखोंमें व्यक्त दुःखोंकी पूर्वापरता— ये समस्त विषयसुख दुःखोंसे भरे हुए हैं, इन बातोंको क्या समझना है, सब पर बीती हुई है कि इस जीवनमें इन विषयसुखोंके कारण अपने आपको फंसाया, दुखी किया, पर आनन्द अथवा प्रसन्नता कुछ भी नहीं प्राप्त की। यह सुख नहीं है। सुख

वह है जिसके बाद दुःख न आये है। कोई ऐसा सुखिया स्त्रीका पुत्रका, धनका कि जिसके आगे दुःख न आये? अरे शाम सुबहका तो भरोसा नहीं कि क्या गुजर जाय? आगेकी तो कौन कहे? इस संसार मे कहीं सुख नहीं है। करनेको तो सब करते ही हैं। गृहस्थ हैं, पर ज्ञान तो सही रखना चाहिए। जो वास्तविक सुखमय हैं वे ही तो परमेष्ठी कहलाते हैं। साधुतासे पहिले, आत्मध्यानकी स्थिरतासे पहिले किसीको सुखी नहीं कहा जा सकता। कोई सही बात मान ले तो उसे दुःख भी कष्ट न देगा और सुख भी अलाभ न देगा।

यथार्थज्ञानमें कष्टकी अवेदना— कोई कष्ट आया है तो बुद्धि तो व्यवस्थित बनावो कि संसार तो कष्टमय ही है। कोई अचानक अघटित बात नहीं होती है। यहां तो सारे जीवनमें कष्ट ही कष्ट है। आये हैं कष्ट तो उनके ज्ञाता द्रष्टा रहो, उन पर भी एक हंसी मुस्कान लावो।

यथार्थज्ञानमे कष्टकी अवेदना— यह भी एक संसारकी तरंग है। दुःख न रहेगा ज्यादा। एक सेठ किसी अपराधमें जेलखानेमें बंद कर दिया गया। अब वहां चक्की भी पीसनी पड़े और-और भी काम करने पड़ें इससे वह सेठ बड़ा दुःखी था। सोचता है कि देखो कहां तो मैं गद्दी तक्की पर पड़ा रहता था और कहां अब चक्की पीसनी पड़ रही है। ऐसा दुःखी देखकर एक कैदीको उस पर दया आयी और वह समझाने लगा—सेठ जी! यह तो बतलावो कि इस समय तुम स्वसुरालमें हो या जेलमें हो? सेठ बोले जेलमें हैं। तो जेलमें तो यही करना पड़ता है। तुम घरकी और स्वसुराल की बातें छोड़ दो कि मेरी ऐसी खातिरी होती थी। जहां हो वहांकी बात देखो। लो इतनेमें ही उसका दिमाग बदल गया और दुःख कम हो गया। तो दुःखोंसे क्या घबड़ाना? संसार दुःखमय ही है। कभी यह न सोचो कि मुझपर अनहोनी बीती है। सब हो सकता है, सब होता है। यहां किसी भी बातको अनहोनी मत समझो। संसार दुःखमय ही है। जो विषयोंकी लालसा रखता है वह क्लेशका ही पात्र होगा। सुख तो आत्मज्ञानमें, आत्ममननमें आत्मदर्शनमें है।

ज्ञानका निजरूप— ज्ञान वह कहलाता है जहां अज्ञान न हो। परमार्थतः ज्ञान वह है जो ज्ञान ज्ञानका शुद्धस्वरूप जानता रहे। जो ज्ञान अपने स्वरूपको न जानकर बाहरी जड़ पदार्थोंमें आसक्त होकर जानता है वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, अज्ञान है। ज्ञान वही है जहां अज्ञान नहीं है। जहां भेदविज्ञान है, जहां विवेक बुद्धि समर्थ है, ज्ञान उसीका नाम है।

शुद्धगति व उसके लिये कर्तव्य— गति भी आदरणीय वह है जहां

से फिर लौटना न हो। सिद्ध गति--सिद्ध दशा कोई गति नहीं है, पर गतियों से छूटकर जहां जाना हुआ, चाहे जाना ऐसा हुआ कि फिर कभी संसारमें लौटकर न आये उसे भी लोग गति कहते हैं। एक भवसे आये दूसरे भवमें गये, वह ही व्यक्त गति हैं आवागमनरूप गति प्रशंसनीय नहीं है, यह स्थिति तो क्लेशकारिणी है, गति याने जाना तो वही प्रशंसनीय है जहांसे फिर आना नहीं होता है अर्थात् गतिरहित होनेकी गति ही हितकारिणी स्थिति है। मुक्त जीव निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होकर फिर संसारमें लौटकर नहीं आते। निर्वाणकी प्राप्तिका पुरुषार्थ ही वास्तविक पुरुषार्थ है ऐसा जानकर अधर्मका तो परिहार करे, विषयसुखोंसे उपेक्षा करे, अविवेकसे दूर रहे और मुक्तिकी ही वाञ्छा रहे, इसही प्रवृत्तिसे इस जीवनकी सार्थकता प्राप्त होगी।

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्ध्या न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम्॥४७॥

अपूर्व यत्नकी सुधका अनुरोध-- हे इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त विचारहीन पुरुष! तू असिमसि कृषि खेती व्यापार आदि अनेक उद्यम करके इस लोकमें धनसंचयके निमित्त बारबार क्लेश करता हैं। अरे एक बार ऐसा तो उपाय कर कि आगे जन्म मरण ही समाप्त हो जायें, अर्थात् धनका साधन छोड़कर तृष्णा त्यागकर धर्मका साधन कर। हमको वास्तवमें शान्ति के लिए करना क्या है? इतना भी यदि चित्तमें समा जाय तो चाहे उसे न भी कर सकें तब भी आकुलतामें कमी हो जायगी। जिस पुरुष ने अपने जीवनका यह लक्ष्य ही नहीं बनाया और लक्ष्य बनाया है धन कमावें परिवार बढ़ावें, बच्चे खुशी रहें, हमारा विवाह हो, फिर संतान हों और कुलमें यह परम्परा बराबर बनी रहे इतना ही मात्र जिसके जीने का उद्देश्य है, वह न तो कभी संतोष पा सकेगा और न कभी विश्राम पा सकेगा कारण कि इसकी पुड़िया कभी पूरी हो ही नहीं सकती।

ऊधमभरी लम्बी कहानी-- एक बार रात्रिके समय किसी राजाको नींद नहीं आ रही थी, सो राजाने मंत्रीसे कहा कि कोई ऐसी कहानी तो सुनाओ कि एक ही कहानीमें रात गुजर जाय। मंत्रीने कहा अच्छी बात। सुनो! हम ऐसी लम्बी कहानी छेड़ेंगे कि एक रात तो क्या, वर्ष भरके दिन रात भी गुजर जायें तो भी हमारी कहानी पूरी न हो सकेगी। अच्छा सुनाओ कहानी सुनो— एक बार मैं एक बागमें घूमने गया, कुछ हमारे साथी भी थे। देखो हम कहानी कहेंगे, तुम हुंकारा देते रहना तो कहानी फिट बैठेगी तो सुनो राजन्! हम बागमें गए, वहां बागमें हजारों इमली के पेड़ थे। ए

इमलीके पेड़में बहुत बड़ी-बड़ी १५ के करीब करीब शाखायें थीं और एक-एक शाखामें करीब ५०, ५० उपशाखायें थीं। एक-एक उपशाखामें करीब १०० १०० टहनियां लगी हुई थीं। राजन् सुनते रहना और हुंकारा देते रहना। एक-एक छोटी टहनीमें हजार-हजार पत्ते लगे थे। एक भंवरा आया। राजन् हां बोलते जावो, नहीं तो कहानी हम न सुनावेंगे। राजा उसकी हर एक बात पर हूं हूं बोलता जाय। एक भंवरा आया सो एक पत्ती पर बैठ गया। राजन् पूछते जावो कि फिर क्या हुआ? तो हम कहानी सुनावेंगे। राजा बोला फिर क्या हुआ? एक भंवरा आया और एक पत्तीपर बैठ गया। फिर क्या हुआ? फिर फुर्र उड़ा, तीसरी पत्ती पर बैठ गया। सो करीब १०० बार राजाने हुंकारा दिया और पूछा। अब बतावो जिस बागमें हजार इमल पेड़ हों और उनकी एक-एक पत्ती पर वह भंवरा उड़ उड़कर बैठे तो कित वर्षके रात दिन गुजर जायेंगे इस कहानीको पूरा होने में? राजा तो उतने ही घबड़ा गया। घंटे डेढ़ घंटेमें ही नींद आने लगी और बोला कि मंत्रि अब किस्सा बंद करो।

तृष्णाकी बेछोर कहानी— भैया! वह किस्सा तो चाहे कभी पूरी हो जाय उन हजार पेड़ोंकी बाग वाली बातका, पर यहां की तृष्णाका किस्सा तो कभी पूरी हो ही नहीं सकता। अरे इस भवसे मरे तो दूसरे भवमें गए, वहां भी यही रोग, यही तृष्णा। अब तक इस जीवने अनादि कालसे अनन्त भव धारण किए, अनगिनते भी नहीं, अनन्त, उन सब भवमें क्या किया सिवाय तृष्णाके? यह जीव, यह मनुष्य सम्यग्ज्ञानके न होनेसे भ्रममें बड़ा दुःखी है। इस दुःखी जीवको ज्ञानका ही एक ऐसा सहारा है कि वह दुःख भूल सकता है, आनन्द पा सकता है। ज्ञानका जोग न मिले तो और कोई उपाय नहीं है कि इसको शान्ति मिल सके।

अपूर्व व्यवसायका निर्णय— यह जीव सुख चाहता है और दुःखसे डरता है। और जितने भी यह प्रयत्न करता है वह सब करता है दुःख दूर करनेके लिए, सुख उत्पन्न करने के लिए। चाहे हो कुछ जाय पर उद्देश्य तो सुखप्राप्तिका है और दुःख दूर करनेका है। यहां तक कि कोई पुरुष क्रोधमें आकर हत्या भी कर डाले तो वह अपनी हत्या भी अपनेको सुखी करने के लिए कर रहा है। जितने भी जीव प्रयत्न करता है सब अपनेको सुखी करने के लिए। फिर चाहे सुख मिले या न मिले, पर लक्ष्य व प्रयत्न है अपनेको सुखी करनेके का। इसही जीवनमें ४०, ५० वर्ष तक कितने काम कर डाले, हेर फेर करके कितने व्यापार कर डाले, बहुत काम किया, अब अपने आप पर दया करके एक काम और करलो। जैसे व्यापारी पुरुष कोई व्यापार

करता है, लगातार उसमें नुक्शान पड़ता रहे तो उसे बदलकर दूसरा व्यापार करता है, उसमें भी लगातार नुक्सान पड़ता रहे तो उसे भी बदलकर तीसरा व्यापार करता है। तो हे आत्मन्! अब तक तू ने जितने व्यवसाय किये, श्रम किये? उन सब श्रमोंमें तुझे टोटा ही पड़ता रहा। किसी भी प्रसंगमें किसी भी श्रमसे तेरे आत्मामें तेरे आत्माको संतोष देने वाला कोई काम नहीं हुआ। अब तो तू अपने इन व्यवसायों को बदल दे। एक अपूर्व नया व्यवसाय कर। वह नया व्यवसाय है भिन्न अहित समस्त परद्रव्योंकी दृष्टि त्यागकर अपने आपमें सहज ज्ञानानन्दप्रकाशरूप प्रतीति रखना।

निर्नाम चिद्ब्रह्म की प्रतीति—भैया! जैसे कि अपने नामकी अपने में प्रतीति है, मैं अमुक हूं, कैसी प्रतीति है? परदेश जाय तो भी नहीं भूलता कि मैं अमुक नाम का हू, सोया हो तो भी नहीं भूलता। जैसे नामकी प्रतीति स्वयंमें कैसी श्रद्धापूर्ण भरी हुई है—ऐसे ही यदि पर्यायबुद्धिकी प्रतीति दूर हो जाय और मैं तो नामरहित देहरहित एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ज्ञानात्मक तत्त्व हूं, इस मुझ ज्ञानात्मकतत्त्वका वास्तवमें कुछ नाम ही नहीं है, लोगोंने व्यवहारके अर्थ इस देहका, इस पर्यायका नाम रख लिया है, पर मेरे आत्माका कुछ नाम भी है क्या? कोई नाम नही है। मैं नामरहित मात्र ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, यह प्रतीति जगे तो निराकुलता बनेगी, आत्मीय आनन्द जगेगा। भविष्यकालमें मै दुःखी न होऊँ, इसके लिए लोग बहुत बड़ा प्रयत्न करते हैं, तो परलोकमें भी मैं दुःखी न होऊँ ऐसा भी तो ख्याल कर और प्रयत्न कर। मैं परलोकमें दुःखी न होऊंगा, ऐसा कोई यत्न है तो वह यही यत्न है।

सर्व आत्मावोंकी व उनके धर्मकी एक पद्धति— जैसे मनुष्य सब एक समान पैदा होते, एक समान मरते और एक ही समान मूलमें सुख दुःखका उपाय रचते हैं। कहीं ऐसा उपाय तो नहीं है कि अमुक सम्प्रदायके आदमी इस तरह पैदा होते हैं, अमुक सम्प्रदायके इस तरह, ऐसा कोई पैदा होनेमें भेद तो नहीं है, मरनेमें भी कोई भेद नहीं है। ऐसे ही जानों कि इन समस्त आत्मावोंमें आत्मावोंके स्वरूपका भेद नहीं है। समस्त आत्मा एक ज्ञानज्योति स्वरूप हैं, उस स्वरूपको निरखें और उसही रूप अपनी प्रतीति करें तो देखो कितने ही संकट अभी नष्ट हुए जाते हैं। जहां पर्यायबुद्धि होती है देहमें यह मैं हूं ऐसी मान्यता होती है और दूसरे देहोंमें ये पर हैं ऐसी दृष्टि जगती है बस तभी संकट उत्पन्न होने लगते हैं। सम्मान अपमानकी बुद्धि जहां बनी, वहां क्लेश ही हुआ करता है। जरा इस नामरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आपकी प्रतीति करके निहारो तो कोई कष्ट ही नहीं है।

इस दुनियामें यशको और कीर्तिको फैलानेकी यह महान होड़ फिर यह जीव नहीं मचा सकता।

नामकी प्रतीति पर विडम्बनाओंका प्रवाह— भैया! एक थोड़ी यही कल्पना करो कि सभी मनुष्योंका यदि एक ही नाम रख दिया जाए, भिन्न भिन्न नाम न हों, सबका एक ही नाम हो। मान लो सबका नाम खचेड़मल रख दिया जाए तो अब किसी भी मनुष्यके मनमें यह लालसा नहीं जग सकती कि मैं अपना यश फैलाऊं, कीर्ति फैलाऊं, क्योंकि नाम फैलेगा तो वही खचेड़मलका नाम आएगा। एकसा नाम हो या नाम ही न हो, ये दो बातें अच्छी हैं। ये भिन्न भिन्न नाम होना और उन कामोंमें अपनी प्रतीति करना ही दुखका कारण है। किसी सिद्धान्तमें तो सब दुखोंकी जड़ नामको बताया है। जितने भी क्लेश उत्पन्न होते हैं, वे सब नामसे प्रकट होकर ही होते हैं। एक श्रद्धान् बनाओ कि मुझ आत्माका तो नाम ही नहीं है। देखो सुखी शान्त होनेकी बड़ी सुगम चिकित्सा बतायी जा रही है। ऐसा श्रद्धान् हो सकता है कि सबको भूलकर इन्द्रियोंको संयत करके एक मन भ्रमको दूर करके सतोषपूर्वक विश्राम तो कीजिए। दो चार सेकेण्डमें ही तो अनुभव में अनुभवमें आएगा कि ओह! यह मै इसका तो कुछ नाम ही नहीं है। यह आत्मस्वभाव विलक्षण उत्कृष्ट तत्त्व हूं, ऐसा नामरहित अपने आप प्रतीति कर लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

कृतकर्मका उपभोग— अहो! जिन जीवोंके प्रसन्न करनेके लिए सुखी करनेके लिए इतना अथक परिश्रम किया जा रहा है, वे सब तुम्हारे क्लेशोंमें हाथ नहीं बटा सकते हैं। केवल अपना कमाया हुआ पुण्य पाप ही अपने साथ रहता है और जो किया है वह बदल नहीं सकता, फल देगा। कोई बड़ा ही ज्ञानपूर्ण उत्कृष्ट तपश्चरण हो तो किया हुआ पाप बदल तो सकता है, पर यो ही नहीं बदल सकता।

दो धार्मिक मित्रका दृष्टान्त— दो मित्र थे, उनकी धार्मिक चर्या थी। प्रतिदिन स्वाध्यायका उनके नियम था। एक घंटा रोज शास्त्रचर्चा करना और अपने रागका बोझ हलकाकर लेना ही उनका रोजका काम था। अन्य बातें तो सब सुलभ हैं, किन्तु धर्मध्यानकी चर्चा करना, ऐसी संगति प्रसग मिलना बहुत दुर्लभ चीज है। जो सबसे बड़े उत्कृष्ट पुरुष होते हैं या देव होते हैं, उनका समय धर्मचर्चा में व्यतीत होता है। हीन दीन दुखी पुरुषों का जीवन व्यग्रतामें और परिश्रममें व्यतीत होता है, किन्तु पुण्यवान् आत्माओंका, उत्कृष्ट जीवोंका समय धर्मध्यान और गुणोंकी चर्चामें व्यतीत होता है। देवोंमें उत्कृष्ट देव, लौकान्तिकदेव व सर्वार्थसिद्धिके देव होते हैं।

सागरी पर्यंत उनका समय धर्मध्यानकी चर्चाओंमें व्यतीत होता है, ऐसा जीवन मिलना, सुयोग मिलना, जहां धर्मचर्चायें अधिक हुआ करें, वह जीवन और वह क्षण दुर्लभ चीज हैं।

धार्मिक मित्रोंका वचनार्पण— वे दोनों मित्र एक दिन स्वाध्याय करते हुए परस्परमें वचनबद्ध हुए कि हम तुम दोनोंमे से कोई एक मरे और मरकर देव हो तो वह दूसरेको समझानेके लिए यहां आये। एक मित्र मर कर देव हुआ और वह दूसरेको समझानेके लिए मन्दिरमे आया, जबकि वह स्वाध्याय कर रहा था। बोला कि मित्र हम तुम्हारे मित्र है, देव हुए है। अब तुम विषयसुखोमे, गृहस्थीके जंजालोंमें अधिक मत फंसो, कुछ विराम ले लो। तो वह बोला कि वाह, हमारी स्त्री बड़ी आज्ञाकारिणी है, बच्चे बड़े विनयशील हैं. माता पिता हमारी बड़ी चिन्ता रखने वाले हैं, बड़ा आनन्द है, मै उन्हें कैसे त्याग दूं ? देव बोला कि तुम कलके दिन १२ बजे दिनमें बीमार होकर पड़ जाना, हम आकर तुम्हें सब सीधा साक्षात् करके ही समझा देंगे।

मित्रका प्रतिबोधन— मनुष्य-मित्र सिर दर्दका, पेट दर्दका बहाना लेकर पड़ गया। घरके लोग बड़े व्याकुल हुए। वह देव सड़क पर वैद्यका रूप धारण करके, दवाकी पुकार करके टहलने लगा। लो हमारे पास बड़ी अच्छी दवायें हैं, दवा बेकार नहीं जाती है। घर वालोने बुलाया और कहा कि इसकी दवा कर दीजिए। वैद्यने कहा कि एक गिलास पानी लाओ, पानी आ गया। उसमें कोई एक भस्म डाल दी और कुछ थोड़ा झूठमूठसा मन्त्र फूँक दिया। पहिले उसकी मांसे कहा कि मां ! लो दवा पियो, अभी तुम्हारा लड़का ठीक हुआ जाता है। अब घर वाले सोचते हैं कि बीमार तो यह है और दवा हमें पीनेको क्यों कहते हैं ? वैद्यने कहा कि यह दवा मन्त्र-सिद्ध है। इसे जो पी लेगा, वह तो मर जाएगा और रोगी बच जाएगा। मां सोचती है कि यदि मैं ही मर गयी तो अभी ये जो तीन बच्चे हैं, उनका सुख न देख सकूँगी। सो वह दवा पीनेको तैयार न हुई। स्त्रीसे दवा पीनेको कहा तो उसने भी सोचा कि यदि मैं ही मर गयी तो अपने इन चार बच्चों का सुख न देख सकूँगी। इसलिए उसकी स्त्री भी दवा पीनेके लिए तैयार न हुई।

पितासे दवा पीनेको कहा गया तो उसने भी इन्कार कर दिया तो वैद्यने कहा कि क्या मैं दवा पी लूँ ? घर वाले बड़े खुश होकर बोले कि हां हां ! पीलो, आप तो बड़े दयालु हैं। ""अच्छा ! तुम लोग जावो, हम इसे पी लेंगे। घरके सभी मनुष्य वहासे चले गये। अब वह समझाता है कि

देख लिया तुमने सब ? क्या तुम्हारे लिए कोई हुआ ? बस वह ठीक हो गया, वैद्य चला गया।

धर्मकी सुधसे जीवनकी सफलता— भैया ! किसके लिए अपने आत्माकी सुध खोकर अपनेको व्यग्र बनाये जा रहे हो ? यद्यपि यहांका भी कर्तव्य करें, पर अन्तरंगमें निराकुल रहो। बहुत व्यवसाय किया, अब यही पुरुषार्थ करें, जिससे संसारके संकट सदाको मिट जायें। वह उपाय है धर्म साधनाका। आत्मा सब एक समान है और धर्म भी सबका एक है। राग-द्वेष मोह न करना, केवल जाननहार रहना, इस धर्मका पालन करके संसार के सभी दुख प्रदान करने वाले संकट मिटालें, इसमें ही अपने मनुष्यजन्म की सफलता है।

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयथात्म्यको।
बाह्ये वस्तूनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुदुः॥
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज—
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्॥

जीवका अनादिसे संकल्प और भ्रमण— यह आत्मानुशासन ग्रन्थ है। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया गया है। यह जीव अनादिकालसे भ्रमबुद्धि करके नाना कल्पनाओंमें बस रहा है और इसीके फलमें कभी पशु, कभी पक्षी, कभी वनस्पति और मनुष्यादिक देहोंको धारण करता चला आया है। जो पदार्थ सत् है अर्थात् है, वह पदार्थ किसी दिनसे बना हुआ नहीं है। जो सत् है वह अनादि से है। असत् कभी सत् नहीं बनता और सत्का कभी समूल नाश नहीं होता, यह अटल नियम है। अपने आपके बारेमें विचारो कि मैं सत् हू या नहीं, यदि न होऊं तब तो बड़ी अच्छी बात है। जो नहीं है उसमें दुखी क्यों हो ? पर ऐसा तो नहीं है। जब मैं हूं तो अनादिसे हूं। कुछ भी न हो, वह है बन जाए, ऐसा कुछ होता ही नहीं है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। जो वह अनादिसे है, मैं पहिले ही था, हमेशा तक रहूंगा।

देहकी सादिसान्तिनत्वता— आज यह मैं इस मनुष्यदेहके बन्धनमें हू इस मनुष्य देहकी आदि है और अन्त है। जब इसका गर्भ हुआ और गर्भ में आना हुआ, तबसे तो इस देहका आदि है और जब मरण होगा, तब तक यह देह रहेगा। लेकिन मैं इस देहसे पहिले भी था, इस देहके बाद भी रहूंगा। इस देहसे पहिले मैं किस रूपमें था ? उसके प्रमाणमें जगत्के जीवों पर ही दृष्टि डालकर निहार लो। जैसे विचित्र जीव नजर आते हैं, उन्हीं किन्हीं भी दशाओं रूप में भी था व न अपनेको अब भी संभाला तो उन्हीं

दशाओं रूप बनूँगा।

आस्तिक और नास्तिक— भैया ! जरा विचार करो कि आस्तिक व नास्तिक किसे कहा गया है ? वर्तमान दशासे ही अपना सत्त्व मानें, इससे पहिले कुछ न मानें, इसके बाद कुछ न मानें उसे कहते हैं नास्तिक और जो वस्तुको परिपूर्णस्वरूप, अनादि अनन्त मानते हैं उन्हें कहते हैं आस्तिक। मैं आत्मा हूं, निरन्तर हूं, इसी कारण नवीन नवीन दशाएँ बनाता रहता हूं और वर्तमान दशाको विलीन करता रहता हूं और मैं बना रहता हूं। बनना, बिगड़ना, बना रहना—ये तीन वस्तुओंके वस्तुगत धर्म हैं। कोई दूसरा बनाने नहीं आता है। जो है उस ही में स्वयं ऐसा गुण है कि वह निरन्तर नवीन-नवीन दशाओंमें बनता है और वर्तमान दशाको विलीन करता है। इस तरह पर्यायको करता हुआ यह मैं सत् निरन्तर रहता हूं। यह है वस्तु का स्वरूप। इस स्वरूपको जो पहिचान लेते हैं उनके मोह नहीं रहता है।

मोहकी त्वरित परिहार्यता— मोहका अर्थ है एक पदार्थका दूसरे पदार्थको अधिकारी मानना, स्वामी मानना। जब सभी जीव, सभी पदार्थ स्वयं सत् हैं और इसी कारण वे अपनेमें निरन्तर बदलते रहते हैं, तब उसका किसी अन्य वस्तु पर क्या अधिकार रहा ? मैं किसका स्वामी रहा ? मैं मेरा ही स्वामी हूं जिसे ऐसी स्वतंत्रताका भान होता है उसे मोह नहीं रह सकता। राग चाहे भले ही रहा आए, काम नहीं चलता घर बिना, भोजन बिना, इसलिए राग रहता है। पर राग रहा आये, मोह न रहे ऐसी भी स्थिति होती है। जो निर्मोह गृहस्थ है वह घरमें वैरागी है, वह मोही साधुओंसे श्रेष्ठ है, मोहका होना ही अज्ञान है, मोह तो होना ही न चाहिए। इस ही में बड़प्पन है। राग जब छूटे तब छूटे, पर मोह तो इसी समय त्यागना चाहिए। मोहके न रखने से किसी काममें बाधा न आयेगी। जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थको वैसा मान लो, इसीके मायने मोहका त्याग है। गृहस्थी मोह बिना तो चल जाती है, हां राग बिना नहीं चलती।

राग और मोहके अन्तरपर एक दृष्टान्त— रागमें और मोहमें यों अन्तर समझिये जैसे कोई रईस रोगी बड़ा बीमार है, बहुत बुखार है, अच्छे पलंग पर सोता है, सारे आरामके साधन हैं, डाक्टर दवा देता है, मित्रजन उसकी सेवा करते हैं, तो देखनेमें तो ऐसा लगता कि इसको बड़ा आराम है। कुछ काम भी नहीं करना पड़ता, दसों आदमी उससे बड़े प्रेमके वचन आकर बोलते हैं, वह रोगी औषधि भी पीता है, समय पर औषधि न मिले तो नाराज होता है, सब कुछ है, उसे उस दवासे राग है, पलंग पर आराम से रहनेका राग है, लेकिन मोह नहीं है, इतनी बात समझनेकी है। उस रोगीके

चित्तमें यह नहीं बसा है कि ऐसी औषधि मुझे जीवनभर मिले और ऐसे पलंग पर मुझे जीवनभर पड़े रहना पड़े। जिस वस्तुके प्रति अन्तरङ्गसे श्रद्धा होती है उसके मोह कहलाता है। इस रोगीको औषधिसे राग है, पर औषधिके रागमें राग नहीं है। इसको उस पलंगके आरामसे राग है, पर पलंगके आरामके रागसे राग नहीं है।

निर्मोहताकी आस्था— ऐसे ही गृहस्थका बच्चोंसे राग है, वैभवसे राग है, पर जो निर्मोह गृहस्थ है, ज्ञानी गृहस्थ है उसे इस अन्तरंग स्थितिसे राग नहीं है। यदि कोई विभावके अपनायतका श्रद्धान रखता है तो वह ज्ञानी नहीं है, निर्मोह नहीं है। यही अपने आप पर बड़ी दया है कि मोह भाव न रखें यथार्थ जानते रहें कि यह तन भी मेरा नहीं है, वैभव तो मेरा होगा ही क्या ? जिन इन्द्रजालोपम मायामय जीवसमूहसे हम अपना सम्मान चाहते हैं वे जीव स्वय कष्टमयी हैं, अज्ञानमें भरे हुए हैं, संसारमें रुल रहे हैं। ऐसा ही मैं बन जाऊँ अथवा हूं तो इसमें क्या सिद्धि है ? न ये सम्मान चाहने वाले सदा रहेंगे, न जिनसे सम्मान चाह रहे हैं वे सदा रहेंगे। यह सब त झंझटबाजी है। इन सबसे परे केवल ज्ञानस्वरूप देहसे भी न्यारा नामरहित मैं सत् हू।

स्वात्मप्रवेशका यत्न— मैं वह सत् हू जैसा कि सबमें बना हुआ है। मैं सबसे विलक्षण नहीं हूं। जो सब हैं सो मै हूं, जो मैं हूं सो सब हैं, ऐसे निर्विशेष चैतन्यचमत्कारमात्र जीवके स्वरूपमें अपने उपयोगका प्रवेश करा और परवस्तुके मोहसे दूर रहें, विश्राम लें, आत्माके अनुभवका सतोष पायें इसीमें वास्तविक बड़प्पन है। यह काम केवल विचार विचार करने से हो जाता है। इसमें किसी दूसरेकी रुकावट भी नहीं है। दूसरे पुरुष तो जान भी नहीं सकते कि मैं क्या कर रहा हूं अन्दर ? मैं तो ज्ञानबलसे अपने आप के प्रकाशमें रह रहा हूं, इसे कोई रोक नहीं सकता, इसमें कोई विघ्न डाल नहीं सकता। हम ही भ्रम करें, कल्पना बनायें तो हम ही अपने विघ्नके करने वाले होते हैं। सारभूत बात इतनी है कि हम आप सबको अन्तमे इस निर्णयमें आना चाहिए कि मैं तो ज्ञान और आनन्द भावसे रचा हुआ सत् हू, ज्ञानमय हूं, आनन्दमय हूं।

आत्माकी ज्ञानानन्द रस निर्भरता— जैसे मिश्रीकी डली माधुर्य रसमय है, कहीं भी मधुर रसकी उसमें रिक्तता नहीं है। कहीं मधुर रस हो और कहीं न हो, ऐसा नहीं है। मधुर रस मिश्रीमें सर्वत्र है। ऐसा ही मेरा आत्मा जितना है उस आत्मामें सर्वत्र ज्ञानरस भरा है, हम नहीं अपनेको पहिचानते इसलिए अज्ञान छाया है। मुझमें सर्वत्र आनन्द रसभरा है। मै

अपना अनुभव नहीं करता, इसलिए क्लेश भोगता हूं। जब समग्र वस्तु परिपूर्ण स्वतन्त्र हैं तब कभी भी किसी बाह्यपदार्थको उपयोगमें न लो। अपनेको समस्त जीवोंके समान निर्मल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र यदि देखा तो वहां एक भी संकट नहीं रहता। सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

संकटसमाप्तिके सुगम उपायका एक दृष्टान्त— जैसे नदीमें कभी कछुवा अपना सिर ऊपर करके चले तो पक्षी लोग उस कछुवेकी चोंच पकड़ने के लिए मंडराते हैं। वह कछुवा कभी टेढी चोंच करे, कभी कैसी करे, पर संकट नहीं मिटता। यदि वह अपनी प्राकृतिक कलाको खेल ले, चार अंगुल नीचे ही पानी में डूब जाय तो पक्षियोंका मंडराना, पक्षियों द्वारा किये जाने वाले सारे उपसर्ग दूर हो जाते हैं, सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। जब उस कछुवे ने पानीमें चार अंगुल भीतर अपना चोंच कर लिया तो क्या करें अब वे सारे पक्षी ?

संकटसमाप्तिका सुगम उपाय— इसी तरह हम अपने इस ज्ञानानन्दमय आत्मासे अपनी बुद्धिकी चोंच निकाल रहे हैं तो अपने आपमें अपने ज्ञानका अनुभव न करके यह अमुक है, यह वैभव है, ये मित्र है, ये कुटुम्ब हैं, यह मेरा सम्मान है, यह अपमान है, यह प्रशंसा है, यह निन्दा है आदिक बाह्यपदार्थोंमें जब हम अपनी बुद्धि दौड़ाते हैं तो सारे सकट छाये हुए हैं, सारे संकटोंसे बचनेके लिए बाहर ही में अपनी बुद्धिको यहां वहां उलझाये तो इससे तो बात नहीं बनती, चैन नहीं मिलती। आज अमुक पोजीशन को सभालना, अमुक वैभवको संभाला, थोड़े समय बाद कोई दूसरी आपत्ति आ गयी, संकट मंडरा रहे हैं, क्यों कि हम अपने उपयोगको आत्मामें न मग्न करके बाहरमें दौड़ा रहे हैं। यदि यह आत्मा अपनी स्वाभाविक कला खेले अर्थात् इस बाहर गये हुए उपयोग को लौटाकर अपने आपके ही स्वरूपमें लीन करदे, एकरस बना दे, सारे विकल्पोंको तोड़कर निर्विकल्प स्थिति बना ले तो ये सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

विशुद्ध आनन्दके स्मरणमें भी प्रसन्नता— यह आत्मा एक दो सेकेण्ड को भी अपने सही स्वाभाविक स्वाधीन आनन्दका अनुभव करले तो इन दो एक सेकेन्डोके अनुभवमें ही वह सामर्थ्य है कि सारे दिन रातका समय प्रसन्नतामें रह सकता है। भला अद्भुत, स्वाधीन आनन्द कुछ सेकेन्डों को भी आ जाय तो उसका स्मरण कहां जायेगा ? चाहे वह आनन्द न रहे, पर याद तो रहेगी। उसकी यादमें ही हमारे रात दिनका समय प्रसन्नता में ही बीत सकता है। हम सबका यह कर्तव्य है कि २४ घंटोंमें १०, १५ मिनट एक आत्माके ध्यानके लिए, प्रभुके स्वरूपके विचारके लिए बैठें। इसके लिए

नियमित समय दें। जैसे कि लोग कहते हैं कि काम इतना बड़ा पड़ा हुआ है कि धर्मके लिए टाइम नहीं मिलता। बजाय ऐसा सोचनेके यों सोचें कि जो हमारा नियमित धर्मका समय है उससे यदि समय बचता है तो हमें अन्य कार्य करना चाहिए। यह मुख्य लक्ष्य रखना चाहिए। जिस बातमें हमें सन्तोषका और ज्ञानका महान् बल मिलता है, उसको हम गौण कर दें और जिन बाहरी उपयोगोंमें से हम रिक्त हो जाते हैं, अटपट रहते हैं, वेदना अनुभव करते हैं, उन ही कार्योंको मुख्यता दें तो यह आनन्दका ही मार्ग नहीं है।

अपने सामर्थ्यके सदुपयोगका अनुरोध— हे आत्मन्! तू तो यथार्थ वस्तुओंको नहीं जानता, इसलिए बाहरीपदार्थोंमें यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, इस प्रकारकी कल्पना करके इष्टमें आसक्ति बनाता है और अनिष्टमें द्वेष बनाता है। यों अपना काल व्यर्थ गँवाता है। तू अपने मनमें शान्त दशाको प्राप्त हो। जब तक यह मरणकाल नहीं आता है तब तक तो इस श्रेष्ठ मनके कारण तेरे वशका सब कुछ है। जब तक कठिन रोग वेदना नहीं आती है तब तक तो तेरे वशका सब कुछ है। जब सामर्थ्य है, तब जो योग्य काम है, धर्मसाधन है उसे तो कर और धर्म क्या करना? जैसे सत्य संतोष मिले, वही काम करना, इसीको ही धर्म करना कहते हैं। धर्म कहनेसे नहीं होता। धर्मसे कष्ट नहीं होता है।

शान्तिसे धर्म होता है और धर्मसे शान्ति होती है। इस ही कारण अपना समय नियत करके एक या आधा घण्टा अवश्य धर्मध्यानमें व्यतीत करना चाहिए। मुसलमान भाई लोग जहां कहीं भी होते हैं, अपनी नमाजके समयमें तौलिया बिछाकर बिछाकर नवाज पढ़ने लगते हैं। उन्होंने अपना नियम बनाया है। सो अपने धर्मपालनका नियम बनाओ। मान लो कि प्रभु पूजा अथवा स्वाध्याय तो किसी भी जगह कर सकते हैं, पर यह उत्साह होना चाहिए कि हमें अपनेको समझना है, क्योंकि वही मैं आत्मतत्त्व शान्तिरससे भरा हुआ हू।

विवेकबलका पोषण— स्वाधीन आनन्द तो मेरा मेरे आलम्बनसे ही प्रकट होता है। बाहरी चीजोंकी आशा करके शान्ति नहीं मिल सकती है। किसी भी पदार्थकी मेरे मनमें आशा न जगे, ऐसा अपने ज्ञानबलको पुष्ट रखना चाहिए। मैं आत्मा स्वय सत हूं, परिपूर्ण हू, अधूरा नहीं हूं। मैं अपने आपके द्वारा अपने आपको किसी न किसी रूप बनाया करता हूं। मेरा किसी अन्य पदार्थसे कोई नाता नहीं है। सभी जीव असहाय हैं अर्थात् अपने उदयसे अपनी स्थितिको लिए हुए हैं। ऐसे इस अशरण और असार

संसारमें कदाचित् पुण्ययोगसे कुछ वैभव मिला, साधन मिला तो इसको पाकर हर्षमें मग्न होना विवेक नहीं है। जो परके संयोगके समयमें हर्षमें मग्न होता है उसको वियोगके समयमें उस हर्षसे भी कई गुणा विषाद भोगना पड़ता है।

गृहस्थका प्रथम तपश्चरण— गृहस्थकी ये ही तो दो विशिष्ट तपस्याएं हैं, जिनके बलपर यह सुखी रह सकता है। प्रथम तपश्चरण तो यह है कि जो भी समागम मिला है उसके प्रति अभीसे यह ज्ञान बनाये रहें कि इसका किसी दिन वियोग जरूर होगा। जब वियोग होगा तो आपका अंतः बोल उठेगा— लो मैं तो पहिले सेही कह रहा था, पहिले से ही जान रहा था कि इसका वियोग जरूर होगा, बस वही समय आ गया है। उसका खेद कम हो जायेगा। जो समागम पाकर वियोग होगा ऐसी जानकारी नहीं बनाता है उसको वियोगके समयमें बहुत क्लेश भोगना पड़ता है। पहिला तपश्चरण तो यह है कि पाये हुए समागमके प्रति यह धारणा रक्खो कि इसका वियोग अवश्य होगा। इस ही ज्ञानमें फिर सब करामात भरी हुई है कि भविष्यमें वह दुःखी न होगा।

गृहस्थका द्वितीय तपश्चरण— गृहस्थका आवश्यक दूसरा तपश्चरण यह है कि अपना जीवन धर्मसाधनाके लिए समझें, विषयसाधनोंके लिए न समझे। इस कारण जो भी परिस्थिति है, जो भी आय है उसही परिस्थिति के भीतर आधेमें गुजारा करलें और बाकी आधेमें आधा तो विशेष अवसरके लिए संचित करें और उस चौथाईको दया, दान, परोपकार आदि कार्योंमें खर्च करते रहें। जो अपनी आयके भीतर अपना खर्च नहीं बनाते। ज्यादा शौक शान और आवश्यकताएँ बढ़ाते हैं उनके धर्ममें चित्त नहीं लग सकता, क्योंकि उस शान शौककी पूर्ति भी नहीं कर पा रहे हैं। वही काम अभी बहुत पड़ा हुआ है। अपना गुजारा साधारण पुरुषोंकी नाईं करें और यदि वैभव आता है तो यह भी तो एक श्रृङ्गार है कि दीन दुःखियोंके उपकार में लगायें। खाया खोया वह गया, दशलाक्षणी पूजामें कहते हैं— जो तुमने श्रृङ्गार किया, यह शरीर चमड़ा सजाया अथवा भोग विलास किया, नाना प्रकारके उपभोगमें, व्यर्थ व्यय किया वह तो बह गया। क्या रहा ? न उससे लौकिक यश रहा, न आत्मसंतोष रहा। दूसरी तपस्या गृहस्थको करने को यह है कि अपनी आयके भीतर ही व्यवस्थाएँ बनाएँ।

गृहस्थका जैनमार्गानुसरण— इन दोनो तपश्चरणोंको करता हुआ गृहस्थी अपना यह निर्णय रक्खें कि मुझे ज्ञानार्जन करना है, वस्तुस्वरूपको समझना है, जैसा मेरा सहजस्वरूप है वैसा ध्यान बनाना है और निर्विकल्प

स्थिति बनाना है। यही एक जैनमार्ग है। जिसने रागद्वेष जीत लिया वह जिन कहलाता है। वह कोई भी हो, ऐसे जिनप्रभुने जो मार्ग अपनाया था वही मार्ग उनके शासनमें बताया गया है। इन्द्रियोंको संयत करें, आत्मा का अनुभव करें, इससे ही संसारके संकट दूर होंगे।

> आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरित·।
> किन्नावैपि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतु क्षमः॥
> स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद्दुरन्तान्तकः।
> ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः॥४६॥

विषयाशाविषपान— यह जीव अनादिकालसे आशाकी नदीमें बहता हुआ अब तक डावांडोल चल रहा है। विषयोंकी अभिलाषा एक ऐसा विषपान है, ऐसा एक विडम्बनाका भाव है कि आशामें रहकर इस जीवकी बुद्धि हर ली जाती है। विषयोंकी इच्छा तृप्त करनेके लिए तीन लोककी सम्पदा भी आ जाय तब भी थोड़ी ही है। यह सम्पदा तो नियत है और इसके अभिलाषी अनगिनते हैं और प्रत्येक पुरुष समस्त सम्पदाको चाहता है। इसकी अभिलाषामें सीमा नहीं है। तब भला बतलावो आशा कैसे पूर्ण हो? अरे इन अभिलाषावोंसे शान्ति कैसे प्रकट हो?

अनादिविडम्बना— हे मित्र! परवस्तुका अभिलाषी होकर इस आशा नदीमें प्रेरित हुए अनादि कालसे अनन्त जन्म मरण करते हुए तेरा अनन्त काल व्यतीत हो गया है। इसका इस विडम्बनासे व्यतीत हुआ समय सोचो तो कहीं आदि नहीं है। जैसे दिन रातमें से बतावो सबसे पहिले क्या था? दिन था या रात थी? कुछ उत्तर ही न मिलेगा, क्योंकि न सबसे पहिले दिन था, न सबसे पहिले रात थी। यह रात दिनका क्रम अनादिसे है। जैसे सबसे पहिले कौन मनुष्य था? आज जो बाप है क्या उसके बाप न रहा होगा? सभी अपने बापसे होते आये हैं। क्या कोई बाप कभी ऐसा भी हुआ है कि जिसका बाप कोई न था? जैसे यह संतति अनादिसे चली आ रही है, ऐसे ही सब कुछ क्रम हमारे भ्रमणका जन्म-मरणका सब अनादि से चला आ रहा है। बड़ा गहन जाल है। शायद इस पर कुछ विश्वास न हो तो इस पर भी तो विश्वास नहीं हो सकता कि किसी ने एक दिन सब व्यवस्था बनायी, ढाचा बनाया, पैदा किया, यह तो बात बिल्कुल जच भी नहीं सकती। किसने बनाया, कहा बैठकर बनाया, किस चीजसे बनाया, उपादान क्या था? वहां भी तो अनेक तर्क चलेंगे। जो सत् है वह अनादि कालसे है। हम आप सत् हैं तो अनादिकाल से ही चले आ रहे हैं, और चले आ रहे है आशासे प्रेरित हुए, नाना कल्पनावोंके क्लेशोंको भोगते हुए

पा रहे हैं।

आशानदीके तिरनेका उपाय— यह आशारूपी नदी और किसी भांति नहीं तिरी जा सकती है। यह तो केवल आत्मज्ञानसे ही तिरी जा सकती है। जैसे अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं हो सकती है ऐसे ही यह आशा वैभवसे कभी तृप्त नहीं हो सकती है। समस्त दुःख मिटानेका कोई उपाय है तो वह सम्यग्ज्ञान है, भेदविज्ञान है। समस्त परपदार्थोंसे भिन्न अपने ही सत्त्वके कारण जिस स्वरूपमें मैं हूं, उसही रूप अपनी प्रतीति बने तो सब क्लेश मिटेंगे। एक इस अध्यात्मके ज्ञानके बिना कितना भी पर-पदार्थोंमें अपनेको अटकाया जाय तो दुःख दूर नहीं हो सकता है। इस कारण अब शीघ्र ही अपने सत्यस्वरूपको निहार करके स्वाधीन बनो। ये सब केवल विचारोंकी बात है। जब विचारमें यह आया है कि मैं अमुक हूं और ऐसी पोजीशनका हूं, बस इस विचारके आनेसे ही उसके क्लेशजाल बढ़ने लग जाता है। यद्यपि यह भी बात आती है मनमें, जो परिणमन होता है, गुजरता है उसे कहां तक ओझल किया जाय? फिर भी सत्य ज्ञानी पुरुष अन्तरङ्गमें यह विश्वास बनाये हैं कि मैं अमुक नहीं हूं, यह मेरा पोजीशन नहीं है, मैं देहसे भी भिन्न केवल ज्ञानप्रकाशमात्र सत् हूं— इसी अन्तरङ्गमें श्रद्धा होनेसे क्लेशोंमें बहुत कमी आ जाती है।

था उसका कुछ नहीं, पर कल्पनामें एक पागलपनकी बात बसा ली थी। ऐसे ही मोहके उन्मत्त पुरुष जो कुछ इसके सामने आये हैं— घर बार परिजन वैभव, ये सब उसके रोके तो रुक न सकेंगे, जब तक हैं, हैं, पर वियोग अवश्य होगा। होता ही है वियोग, होगा ही वियोग। सब कुछ देख भी लिया। अब जब इसका वियोग होगा तो चूँकि मान रक्खा था कि यह मेरा है तो उसे दुःखी होना पड़ेगा। बड़प्पन उसही का है जो यह मान ले कि जगत्‌में मेरा कहीं कुछ नहीं है। बात ऐसी ही है। काम नहीं चलता, सब कुछ जोड़ना पड़ता है, व्यवस्था बनानी पड़ती है, लेकिन ऐसा करते हुए भी तो सत्य बातसे मुँह न फेरना चाहिये।

अकिञ्चन् परमतत्त्वसे समृद्धिप्रवाह— भैया! अपने स्वतन्त्र स्वरूपका यथार्थ ज्ञान बनाये रहें तो उस क्लेशमें अवश्य कमी होगी। यह पुरुषार्थ अपने हाथका है। जब चाहे ज्ञानसे विचार लो, और जैसा अपना आकिञ्चन्यस्वरूप है उसरूप प्रतीति करलो तो क्लेशजाल दूर होगा। अपनेको आकिञ्चन्यस्वरूप माननेसे अर्थात् मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू—ऐसे यथार्थ सहजस्वरूपमें अपनेको मान लिया जाय, आकिञ्चन्य देख लिया जाय तो वहां से सुख समृद्धि उत्पन्न होगी। मेरा है कुछ ऐसा मानने पर तो क्लेश ही मिलेगा। एक कविने प्रभुके स्तवनमें कहा है कि हे भगवान् आप अकिञ्चन् हैं, आपके देह तक भी नहीं है, परिजन वैभव धन पैसा कुछ भी तो नहीं है। केवल आप शुद्ध ज्ञानकी मूर्ति हो, हां तुंग उदार प्रकृतिके हो। आप अकिञ्चन् हो, फिर भी आपका जो स्तवन करते हैं उन्हें आनन्दका लाभ होता है और जो सकिञ्चन बने फिरते हैं मोहीजन, उनका आश्रय करनेसे आनन्दका लाभ नहीं मिलता। विशुद्ध आनन्दकी बात कही जा रही है। यह बात ठीक है। इसका उदाहरण भी देखो। पर्वत अकिञ्चन् है, पर्वतपर जल नहीं है, लेकिन पर्वतपर जलका एक भी बूँद नहीं मिलता, फिर भी नदियां पर्वतसे ही निकलती हैं। समुद्र जलसे लबालब भरा हुआ है किन्तु समुद्रसे कोई नदी नहीं निकलती। जो चीज तुंग आकिञ्चन्यसे प्राप्त हो सकती है वह समृद्धिशालीसे नहीं प्राप्त हो सकती है। शान्तिका, आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानसे है, धन और धनिकोंसे नहीं है।

तृष्णानदीके तीर पहुचनेका अनुरोध— हे आत्मन्! तू आशाकी नदीमें अनादिकालसे बहता डुलता चला आ रहा है। यदि तू अपना पुरुषार्थ न कर सका तो संसारसमुद्रमें गोते खाने पड़ेंगे। इस कारण इस ज्ञानबलके द्वारा तुम आशानदीके तीर पहुंच जावो। एक ब्राह्मणने अपनी कन्याके

विवाहमें खर्चके लिए राजासे कुछ मांगकी। राजाने उत्तर दिया कि कल तुम जो चाहो मांग लेना। ब्राह्मण घर आया, शामको खाट पर लेट गया। अब उसके मनमें कल्पनाएँ दौड़ने लगीं। मैं राजासे एकदम १००) ही मांग लूँगा उसकी दृष्टिमें १००) ही बहुत थे, फिर सोचा कि १००) तो अमुक पड़ौसीके पास भी हैं, उससे क्या गुजारा होगा? हजार मांग लूँगा। हजार तो अमुक सेठके भी पास हैं, हम तो लाख मांगेंगे। फिर लखपतियों पर दृष्टि गयी। हम तो करोड़ मांगेंगे। रातके १ बज गए, २ बज गए, कल्पनाएँ ही चलती गयीं। करोड़ रुपये भी हो गये तो जब तक राज्य शासन हाथमें न हो तब तक वकत क्या है? हम तो आधा राज्य मांगेंगे। फिर सोचा कि आधा राज्य भी मिल गया तो क्या आदर रहेगा। प्रजाके लोग हमारे आकर्षण में न आयेंगे। हम तो सारा राज्य माग लेंगे। अब प्रातः समय होने लगा। भजनका समय आया, भजनमें बैठा, अब बुद्धि उसकी व्यवस्थित बनी। ओह मैंने क्या मागना सोच लिया? राज्यमें तो बड़ा क्लेश है, निद्रा भी नहीं आती। हम पूरा न मांगेंगे आधा ही राज्य मांग लेंगे। फिर सोचा कि दुःख तो वही रहेगा। राज्य न लेंगे, करोड़ रुपये ही ठीक हैं। करोड़पतियों को भी बड़ा क्लेश है। प्रत्येक कमरेमें टेलीफोन लगा होगा, संडास जावो वहां भी टेलीफोन लगा होगा। बड़ी विषम स्थिति है। करोड़ नहीं लाख ही ठीक है। लखपतियोंका दुःख देखा तो सोचा कि लाख न मागेंगे, हजार ही ठीक हैं। फिर सोचा कि १००) ही ठीक हैं। इतनेमें राजा सामनेसे निकला, कहा कि तुम्हें जो मांगना हो सो मांगलो। ब्राह्मण बोला—महाराज मुझे कुछ न चाहिए आपसे क्योंकि जब तक मांगा भी न था कुछ तब तक तो रात भर नींद नहीं आयी, केवल बात ही आपसे हुई थी और कुछ माग लें आपसे तब तो न जाने क्या होगा? महाराज माफ करो, जो हमारी स्थिति है वही हमारे लिए भली है। बात भी यही है।

जीवनका लक्ष्य धर्मलाभ— जिस गृहस्थको उसके भाग्यके अनुसार जो स्थिति मिली है उस स्थितिमें ही गुजारा ही तो करना है, करलो। विषयोंका भोगना, शौक शान बढ़ाना, इसके लिए जीवन नहीं है। जीवन है धर्मपालनके लिए। यह तो एक शरीर रखनेका विधान है। ऐसा साहस गृहस्थको करना चाहिए। मैं आशा न बढ़ाऊँ, किन्तु जो आता हो वह आवे, हममें तो वह कला है कि जो भी आय होगी इसीमें व्यवस्था बनाकर संतोष कर लेंगे और धर्मपालनमें हम अपना पुरुषार्थ करेंगे। यह हममें कला पड़ी हुई है, ऐसा साहस करके सद्गृहस्थ आशासे दूर रहते हैं और अपने आत्मा के ज्ञान श्रद्धान् और ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप आचरणमें अपनेको लगाते हैं।

यह जगत्, यह समागम, यह दृश्यमान् सब कुछ एक अजायब घरकी तरह है। जैसे अजायबघरमें दर्शकोंको केवल देखने का हुकुम है, कोई चीज उठायें नही, किसी चीजको छुवें नहीं। यदि कुछ चीज उठाता है कोई तो वह गिरफ्तार होगा, उसे दंड मिलेगा, कैद मिलेगा। ऐसे ही यह सब कुछ जो मिला हुआ है यह सब अजायबघर है। इसको देखने का हुकुम है, जाननेका हुकुम है पर आसक्त होने का हुकुम नहीं है प्रभुका। तुम किसी बाह्य पदार्थमें आसक्त मत हो, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहो। प्रयोजनवश इनका उपयोग भी कर लो, लेकिन इनमें महासक्त मत हो। यह ही मेरा सब कुछ है, ऐसा अपना लगाव परिजनमें वैभवमें मत करो। यदि यह लगाव रहेगा तो नियमसे क्लेश होगा। बुद्धिमानी इसमें नहीं है।

स्वपरविवेचनका विवेक— भैया! विवेक नाम भेदविज्ञानका है। सबसे निराले निरञ्जन निज ज्ञानस्वरूप को निहारो। यह आत्मा ज्ञानमय है। थोड़ासा भी झुकाव बनानेसे, कुछ ज्ञानका उद्यम करनेसे यह स्पष्ट ज्ञान में आ जाता है, पर उसके लिए इतना साहस होना प्रथम आवश्यक है कि अन्य पदार्थोंको, भिन्न पदार्थोंको हम अपनाएँ नहीं, उनसे उपेक्षा रखें और अपने आपमें आपको जाननेके उत्सुक बने तो अवश्य आत्मज्ञान हो सकता है। यह आत्मा कल्पवृक्षकी तरह है। इसही मे सुख चाहें तो सुख मिलेगा, दुःख चाहें तो दुःख मिलेगा। संसारमें रुलनेका यत्न होगा तो रुलेंगे, ससार से छूटनेका यत्न होगा तो छूट जायेंगे।

आत्मकल्पतरु — एक यात्री था। गर्मीके दिनोंमें नगे पैर कहीं सफर कर रहा था। दोपहरका समय, तेज धूप लग रही थी। उसकी यह इच्छा हुई कि सड़कके किनारे कोई अच्छा पेड़ मिल जाय। वह कुछ दूर चला, उसे एक छायादार वृक्ष मिल गया। उसके नीचे वह पहुंच गया, वह वृक्ष था कल्पवृक्ष। उसे मालूम न था। पेड़के नीचे छायामें वह आराम करने लगा। कुछ देरमें सोचता है कि थोड़ी हवा और चलती तो कुछ विशेष आराम मिलता। हवा चलने लगी। सोचता है कि हवा तो चलने लगी, पर थोड़ा पानी मिल जाता तो प्यास बुझा लेते। पानी भी आ गया एक गिलासमे। अब सोचता है कि यदि कुछ फल वगैरह नाश्ता करनेको मिल जाते तो अच्छा था। एक थालमें फल भी आ गए। अब सोचा कि यहां कोई आदमी भी नहीं है, यह सब कहांसे आ गया? कोई भूत तो यहां नहीं रहता। लो भूत भी सामने आ गया। सोचा कि मुझे खा न जाय, लो खा भी गया। तो जैसे उसने जो भी सोचा वैसा ही हुआ—ऐसे ही जानों कि जो कुछ सुख दुःख ठग प्रसंग जितने भी हमें मिलते हैं, वे हमारे आत्मासे ही मिलते हैं।

इच्छाकी पूर्तिका उपाय इच्छाका अभाव— अच्छा बतावो, हमारा सम्मान किस जगह है ? हमारी कल्पनामें । अपमान किस जगह है ? हमारी कल्पनामें । हमारा सुख किस जगह है ? हमारी कल्पनामें और दुःख कहां है ? वह भी हमारी कल्पनामें । खूब निर्णय करके देख लो । किसी चीजकी आशा लगी हो, चीज मिल जाय, सुखी होना हो तो वह चीजके मिलनेसे सुख नहीं हुआ, किन्तु उस वस्तुके मिलनेका निमित्त पाकर जो कुछ हमारी आशा का अभाव हो गया, इच्छा नहीं रही उसका सुख मिला है । तो सुख मेरे आत्मासे ही मिला, वस्तुसे नहीं मिला । इच्छाकी पूर्ति किसे कहते हैं ? क्या बोरेमें जैसे अनाज भरा जाता है ऐसे ही आत्मामें इच्छा भरते जावो तो इच्छाकी पूर्ति हो जायगी, ऐसा है क्या ? इच्छाकी पूर्ति होती है इच्छा के न रहने से । चाहे यह कह लो कि हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी, चाहे यह कह लो कि हमारी इच्छाका अभाव हो गया, दोनोंका एक ही अर्थ है ।

इच्छाके अभावसे सुखका प्रादुर्भाव— जितने भी सुख होते हैं वे इच्छाके अभावसे होते हैं । हर प्रसंगमें विषयोंके भोगमें भी मनकी कल्पनावों के यत्नमें भी जब भी सुख होगा तब इच्छाके अभावसे होगा । चीजके मिलने से सुख न होगा । पर चीजोंमें मोह लगा है ना तो सुख तो हुआ इच्छाके न रहने से और मान लिया जाता है कि चीजके मिलनेसे सुख मिला । इच्छा हुई सिनेमा देखनेकी तो जब तक इच्छा बनी रहेगी तब तक क्लेश रहेगा, सिनेमा देख लिया लो क्लेश मिट गया । तो यह मोही समझता है कि सिनेमाके देखनेसे मेरा क्लेश मिटा, वस्तुतः सिनेमा के देखने पर अब मुझे सिनेमा देखना है, ऐसी इच्छा नहीं रही । उस इच्छाके अभावका सुख है । यदि यह विवेकी सिनेमा देखने के पहिले ही सिनेमा देखनेका प्रोग्राम रद्द करदे, उस इच्छा को खत्म करदे तो देखे बिना भी उससे अधिक सुख नजर आयेगा । प्रत्येक स्थितिमें इच्छाके अभावका सुख होता है ।

आत्मज्ञान द्वारा आशासे निवृत्ति— भैया ! सब कुछ अभीष्ट तत्त्व अपने आत्मामें हैं, आत्मासे प्रकट होते हैं । उस आत्माको यथार्थ पहिचान लेने पर ये सारे कल्पनावोंके क्लेश दूर हो जाते हैं । देख, इस आशानदीमें बहता हुआ तू जल्दी आत्मज्ञानसे इसे तिरकर पार हो जा, नहीं तो ऐसे भव समुद्रमें तू गिरेगा जहां जन्म जरा मरण ये अनेक यम काल मुँह बाये पड़े हुए हैं तुझे निगलनेके लिए । तू आत्मज्ञान बना और अपने आपको इस आशासे दूर कर, इसही में तेरा कल्याण है ।

आस्वापाद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै—

स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषत्यप्राप्तपूर्वं यथा।
जन्तो! किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत्॥५०॥

भोगोंकी उच्छिष्टता— हे आत्मन्! इस समय जो तुझने पाया है वह क्या है? कुछ इसकी सच्ची खबर तो रख। जो कुछ भी भोगों के साधन पाये हैं, वे सब विषय समागम दूसरोंके द्वारा छोड़े हुए हैं। जैसे रुपया पैसा दूसरोंके छोडे हुए ही तो हाथ आते हैं, ऐसे ही ये सारे समागम पञ्चेन्द्रिय के विषय दिखने वाले रूप, स्वादमें आने वाले रस, गंधमें आने वाले गंध, सुनाई देने वाले शब्द और जो भी चीज छुई जा सकती हैं, वे सब दूसरोंने अपना कौतूहल पूरा करके अब प्रयोजन नहीं रहा, सो छोड़ दिये। उनके छोडे हुए ये सब जूठे भोग साधन अपनेको मिले हुए हैं। दूसरोंके ही द्वारा भोगे और छोडे नहीं हैं, खुदने भी अनेक भवोंमें भोगे और छोड़ दिये हैं। वे ही भोग आज मिले हैं। इस संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो जीवों के द्वारा अनन्त बार भोगा न गया हो। नई चीज यहां कुछ नहीं है। खुदने भी अनेक बार कई भवोंमें जो कुछ भोगे, वे ही आज भी मिल गये हैं। अब इन उच्छिष्ट भोगोंसे तुझे घृणा नहीं आती, ये रतिके योग्य नहीं हैं।

मोहीके उच्छिष्ट भोगोंमें अप्राप्तपूर्वताका भ्रम— एक कल्पना करो, कुछ वर्ष पहिले जो भी भोजन किया हो वह भोजन मल बनकर निकल गया, कूड़ा बन गया, खेतमें गया, वहां गेहूं वगैरह अनाज बोया, वे परमाणु गेहूं के पेड़के रूपमें निकले, फिर उन्हें बाजारसे खरीदा गया, फिर वे ही भोजन में आ गये। यद्यपि पर्याय बहुतसी बदल गयी हैं, लेकिन देख जो भोग तूने पहिले भोगे, वे ही भोगे हुए और उनका आस्वादन ले लेकर छोडे गए सामने पुद्गल हैं, नई चीज नहीं हैं। विषयोंके लोलुपियों ने विषयोंका स्वाद ले लेकर और अपना दिल भरकर, अपना कौतूहल अपनी इच्छा पूरी करके सब छोड़ दिया। वे ही छोडे हुए ये सब साधन हम आपको मिले हैं, लेकिन हे जीव! परायी जूठी चीज पानेमें, भोगनेमे तुझे ग्लानि नहीं आती। सम्पदामें भी यही बात लगा लो। अनेक धनिकोंने सम्पदाको कमाया, अपने जीवनमें जो कुछ कौतुक कौतूहल बनाया उसकी पूर्तिकी और अन्तमें इनको छोड़ा गया। चाहे अपने मनसे छोड़कर छूट गये हों और चाहे मरने पर छूट गये हों, छूटना तो सब ही को है। तो यह सम्पदा जो दूसरोंने भोगकर, अपना कौतूहल बनाकर छोड़ दिया था वही सम्पदा, वही सामग्री हमें प्राप्त हुई है। तू इस सामग्रीको इस तरह दृढ़ताके साथ अपना रहा है जैसे मानों पहिले कभी पाया ही न था, इतना नया मान रहा है।

भ्रान्त धारणाओंसे मुलझनका व शान्ति का अलाभ— भैया! उच्छिष्ट भोगोंको भी नया माननेकी बात मोहमें होती ही है। वैसे भी देखो। रोज भोजन करते हैं, वही दाल रोटी चावल कल भी खाया, आज भी जब खाने को बैठे होंगे तो आज भी नया लगा होगा। कल जब खायेंगे तो वही नई चीज मालूम पड़ेगी। अरे अनेक बार तो खाया, भले ही पेट भरनेके लिए भोगना पड़ता हैं, खायें, पर यह अभूतपूर्व नई चीज है, नया स्वाद है- ऐसी प्रतीति तो न बनाएँ। लोग मोहमें ऐसी ही प्रतीति बनाते हैं। जो कुछ समागम पाया है हमने और औरोंने भी, अनेक बार स्वाद लेकर भोगकर छोड़ा है, अपना कौतूहल दूर किया है। अब तू उसमे कुछ भी ग्लानि नही करता और तू उसे यों मानता है जैसे कि मानो अब तक कभी पाया न हो अब नई चीज पायी है, ऐसा आसक्त होकर। तृष्णा बढाकर तू इन विषयो को भोग रहा है। अरे जंतु! क्या इन भोगोंके भोगने से तुझे कभी शान्ति हुई है?

संसारी जीवोंका जन्तुपना— जन्तु उसे कहते हैं जो भव-भवमें जन्म लेता रहे। यहां व्यवहारमें जंतु कीड़ों मकौड़ों को बोलते हैं। यहां तो बडे भी जीव जंतु हैं। जन्तु मायने है जो जन्म लेता रहे। जिसमें जन्म लेनेकी प्रकृति पड़ी हो उसका नाम जंतु है। कहीं मनुष्योंकी कोई मीटिंग हो रही हो, सभा हो रही हो और कोई ऐसा कहे— देखो भाई कितने प्राणी आ गये, तो इतने शब्द सुनकर कुछ ऐसा लगता होगा कि हमको प्राणी कहा जा रहा है। हम तो मनुष्य हैं। अरे प्राणी सभी संसारी जीव कहलाते हैं। मनुष्य हो या पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा हो तो ऐसे ही जंतु प्रत्येक संसारी जीव कहलाते हैं। हे जंतु! इन भोगोंके भोगनेसे कुछ शान्ति हुई क्या? बल्कि भोगोंके भोगनेसे अपनी शक्ति घटी।

शब्दके भोगसेवनसे भी रिक्तताका अनुभव— भैया! चाहे शब्द सुननेका भोग भोगे, खूब रागपूर्वक, प्रीतिपूर्वक शब्दोंको सुननेका भोग भोगनेके बाद कुछ रीतापनसा नजर आता है। जैसे मानो मैं सब कुछ खो कर जा रहा होऊँ। अभी तो एक शब्द सुननेकी बात पर ही कह रहे हैं। जैसे रात भर संगीत हुआ, खूब जमाव जमा, रातके २ बजे तक जमाव जमा अच्छे राग रागनियोंसे, मगर जब वह जमाव खत्म होता है तब कौतूहल व्यावृत्त हो जाता है, दिल भर चुकता है तो उठने को जी चाहता है। भाई बंद करो, २ बज गये। उस समय उठकर जब चलते हैं तो ऐसा लगता है ना कि रीते से जा रहे हैं, कुछ खो सा दिया है। यह शब्दोके भोगकी बात कह रहे हैं। ऐसे सभी भोगोंमे खोया हुआ सा लगता ही है।

रूप और गन्धके भोगसेवनसे भी रिक्तताका अनुभव— कोई मनोहारी रूप देखनेमें लोलुप होकर खूब देखता रहे, दिल भरकर, छुपकर या सीधा बिना छुपे किसी रूपको देखे, सिनेमा, थियेटर को देखे तो देख चुकने के बाद वह कुछ रीता सा है जैसे मानों उसने कुछ खो दिया हो। इस तरहका अनुभव करता हुआ घर भागता है। बहुत ध्यानसे इस बातको मनमें समझना चाहिए। भले ही उन भोगोंके भोगनेके समय, रूपोंके देखनेके समय शब्दोंके सुननेके समय कुछ मौज आ रही हो, पर जब उन भोगोंका कौतूहल पूरा हो जाता है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है तब यह रीता खोया हुआ सा अपनेको अनुभवता है। यों ही गंध दुर्गन्धकी बात है।

रसके भोगसेवनसे भी रिक्तताका अनुभव— ऐसे ही भोजन स्वादिष्ट खानपानकी बात में भी रीतापन अनुभूत होता है। स्वादिष्ट भोजनकी रुचि यदि है तो ऐसी याचना दीनता चाहे अपने घरमें भी क्यों न करे, भोजन कुछ न कुछ होता है। भोग भोगना हीनता, याचना और कुछ रीतापनका अनुभवन इन दुर्दशावोंको लिए हुए होता है। और फिर दिल भरकर स्वादिष्ट भोजन खा चुकने के बाद यह तृप्त नहीं होता, संतुष्ट नहीं होता, किन्तु मानों अपना बल खो देता है, अब भोग नहीं सकता, बल ही नहीं रहा है, छोड़ना पड़ा है और बादमें इसका परिपाक कठिन होता है, अफारा चढ़े, जुकाम हो, दर्द हो, कितनी ही पीड़ाएं सहनी पड़ती हैं और फिर ये सभी भोग तेरे द्वारा बारबार भोगे गए हैं और छोड़े गए हैं। इन जूठे पौद्गलिक भोगोंमें तू अज्ञानी होकर इतनी उत्सुकता, इतनी स्पृहा क्यों है?

स्पर्शके भोगसेवनसे भी रिक्तताका अनुभव— अहो इन चेतन अचेतन विषयोंके भोगने के कौतूहलसे तूने अपना सब कुछ ज्ञान खो दिया है, हस्तगत कुछ नहीं हुआ। कुछ पुण्य कमाया था उसे खो दिया, मिला कुछ नहीं। भोगोंसे विरक्त होकर अपने को ज्ञानमात्र अकिञ्चन् अनुभव लेनेसे अनुभव होगा कि हमने कुछ पाया। मौलिक चीज, आनन्दका निधान मेरा भगवान् मेरे निकट है वह मुझे मिले तो ज्ञानबल बढ़ता है, आत्मबल रहता है। मोहीजन सोचते हैं कि हम भोगोंको भोग रहे हैं। हो क्या रहा है वहां कि यह खुद भोगोंसे भुगकर रीताका रीता रह गया है, लाभ कुछ नहीं हुआ, हानि ही उठाकर जा रहे हैं। जैसे जो मनुष्य अन्यायी होते हैं, दूसरोंको सताने वाले या क्रोधी या जिनकी अप्रिय बात निकले और वह भी उजड्ड जैसा, जिसका प्रेम भी अनर्थके लिए हो, ऐसा व्यवहार हो, उजड्डपन हो तो जीवनसे जीनेके बाद मरनेपर वह भी खाली गया। लोकके मनुष्य भी उसे खाली रीता अनुभव करते हैं। वह कुछ न कर सका पूर्वभवकी

कमायी, यों ही खोकर चला गया। भोगोंके भोगनेमें कुछ अपना ही खोया जाता है, मिलता कुछ नहीं है। स्पर्शन इन्द्रियका भोग भी व्यर्थका है। इसमें अपना वचन बल भी खोया, मनोबल भी खोया, दूसरोंके आगे कायर कातर भी बनना पड़ा, इसमें तो स्पष्ट ही है कि अपना सब कुछ खो दिया।

आशाके अविजयमें शान्तिकी असंभवता-- हे आत्मन्! एक तो ये पञ्चेन्द्रियके विषय भोगनेमें क्लेशकारी हैं और फिर ये तेरे ही द्वारा अथवा अन्य जीवोंके द्वारा बारबार भोगकर छोड़े गये समागम हैं, इनमें तू प्रीति मत कर। जब तक अपनी दुराशा जो कि पाप बैरियोंकी ध्वजाके समान है। जैसे वैरी सेनावोंकी पताका जब तक फहराती रहे तब तक सेना की निर्बलता समझें, ऐसे ही जब तक यह आशाकी ध्वजा फहराती रहे तब तक जीवके पाप वैरी प्रचंड हैं, अनेक पाप बैरी उद्दण्डता मचा रहे हैं, ऐसा निश्चित समझें। इस आशाको तू जब तक नष्ट न करेगा तब तक तेरेको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो तो तुझे लाभ ही लाभ है, शान्ति ही शान्ति है।

विवेकी जनोंकी सम्पदासे उपेक्षा-- पुण्यवान् ज्ञानवान् पुरुष इस सम्पदाकी ओर झुकते नहीं हैं, आकर्षित नहीं होते, तो यह सम्पदा उनही पुण्य आत्मा जनोंके पीछे पीछे फिरती है और जो लोग आशा करके इस सम्पदाको लक्ष्मी मानकर, देवता मानकर नमस्कार करे, पूजा करें, हाथ जोड़ें, आशा करें उनके पास यह फटकती भी नहीं है। मत फटको। आनन्द सम्पदामें नहीं है, ज्ञानमें है। सम्पदा पाकर भी जो लोग आनन्दमग्न हो रहे हों, वे भी ज्ञानके प्रतापसे आनन्दमग्न हैं सम्पदाके कारण नहीं। जिनके नहीं है सम्पदा और ज्ञानबल विशेष है वे सम्पदाके बिना भी आनन्दमग्न रहा करते हैं। देख इस आशाको दूर कर, मनमें इच्छा न कर कि मैं बहुत अच्छा शृङ्गार करूँ, अच्छे कपड़े, अच्छे गहने पहिनूँ, अच्छी शकल सूरत बनाऊँ। खुद अपने आपके घरमें अपने आपमें तो जैसा चाहे रहे। कहीं नाक जा रही, कहीं लार, कहीं ओंठ और जहां चार आदमियोंमें जाना है, चारको देखना है तो मुँह धोकर तेल लगाकर साफ चिकनी सकल बनाकर जाना, उठना बैठना-- ये सब कौन करा रहा है? यह आशा, मोह पिशाच मूढ़ता व्यामोह इन सब खेलोंको करा रही है। यह तो साधारणसी बात कही है, अपने आपको बड़ा शौक शान सजावट शृङ्गार दिखावट इनको अपने मनमें न रक्खो। मानवके नाते, गृहस्थके नाते जो कुछ पहिनना ओढ़ना पड़ता है वही शोभाके लिए काफी है। बनावट करके जो कुछ किया जाता है वह तो हास्यके लिए है, शोभाके लिए नहीं है। तू इन समागमोंको

पाकर इनमें मग्न मत हो। इनसे शान्ति न मिलेगी।

भैया ! शान्तिका उपाय भेदविज्ञान है जिसके उपयोगमें भेदविज्ञान जगा है, शरीर जुदा है, मैं जुदा हूं, मैं ज्ञानस्वरूप हूं, सब न्यारे हैं, मैं तो केवल अपने आपमें हूं—यों भेदविज्ञान जिनके उपयोगमें जगा है उनका चित्त सदा शान्त शीतल रहता है। जो अज्ञानसे प्रेरे हैं, मोहके सताये हैं, वे जीव हर जगह दुःखी रहते हैं। कौन दूसरेको दुःख देता है ? अपनी मूढतासे अपने ही विषयकषायोंमें लिपटकर प्राणी दुःखी हुआ करते हैं। हे आत्मन् ! अपने उस सहजस्वरूपकी संभाल कर, जो त्रिकाल है, शाश्वत है, तुझे सुखी करनेके लिए निरन्तर तेरे घटमें बस रहा है। यह कारण-परमात्मा सहज दयालु है, इसका विरद स्वभाव है, यह सदा तुझे सुखी करने के लिए तेरे अन्दर है। उस प्रभुताके स्वरूपकी ओर तू दृष्टिपात भी नहीं करता और अपना समस्त बल लगाकर इन मोही प्राणियोंमें, इन अचेतन भोगोंमें तू न्यौछावर हुआ जा रहा है। विराम ले, अपनी भूलको पहिचान। एकदम कुमार्ग पर सीधा बहा मत चला जा। देख दूसरेकी देखा देखी ठीक नहीं है, भेदविज्ञानकी भावना कर, इससे शान्ति मिलेगी।

आशाकी अप्रयोजकता—इस जगत्में सभी पड़ौसी प्रायः करके मोहके प्रेरे हैं। सब विषयोंकी होड़में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। तू उनकी होड़ मत कर। उनकी देखादेखी अपने भीतरकी कल्पनाएँ और ममताको न बढ़ा, विराम ले। अरे तुझे लोगोंने नहीं पहिचान पाया तो क्या हो गया ? धन वैभव तू अधिक कमानेकी इसीलिए तो चाह करता है कि लोग मुझे कुछ समझें। हां, हम भी कुछ हैं। अरे लोगोंने न समझ पाया तो तेरा कुछ लुट गया क्या ? तू लुट तो गया इसमें कि लोगोंको समझाने के लिए अपना उपयोग कर रहा है, अपनेको कष्टमें डाल रहा है। न धर्म करनेको समय है, न सत्संगका समय है, न ज्ञानार्जनका समय है, रात दिन वही निन्यानवेका फेर बना रहता है, तृष्णा बनाये रहता है। अरे भैया ! जितना तेरे पास है यह क्या गुजारेके लिए कम है, लेकिन मोहका ऐसा नाच है कि उसे पर्याप्त ही नहीं समझता। कदाचित् पापका उदय होता और जितना मिला है उसका चौथाई तेरे पास होता तो क्या गुजारा न चलता ? गृहस्थ का यह प्रथम आवश्यक काम है कि जो कुछ मिला है उसमें यह अनुभव करे कि यह तो मुझे गुजारेसे भी कई गुणा अधिक मिला है। मुझे तो इतनी सम्पदाकी भी जरूरत न थी। सब सोच सकते हैं ऐसा। कुछ अपना विवेक जगाये, है सबके पास आवश्यकतासे अधिक। जीवनमें आवश्यकता की कोई लिमिट नहीं है, जितनेमें संतोष किया जाय। जितना मान्यतामें

आ जाय यही आवश्यकता है। आशाको त्याग दें और धर्मधारणकी ओर अधिक दृष्टि दें।

आशापरिहरणका अनुरोध— अपने आत्माका सच्चा श्रद्धान् ज्ञान और आचरण यही है रत्नत्रय। यही है आशासे दूर रहनेकी स्थिति। तू आशाको त्याग दे तो इससे शान्ति प्राप्त होगी। जब तक तू इस आशाको न तोडेगा तो यह पाप वैरी उद्दण्ड रहेगा, तुझे शान्ति न रहेगी और फिर ये भोग जूठी चीज हैं। तू ने भोगकर छोड़ा, दूसरोंने भोगकर छोड़ा। इन जूठे भोगोंमें तू रागी मत बन। इस जगतकी मायाको असार जानकर इनसे विरक्त रहनेकी प्रकृति बना और अपने आपमें बसे हुए शाश्वत सनातन ज्ञान सुधारसका पान कर। इससे तू समस्त संकटोंसे दूर हो जायगा।

भंक्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृ शं।
संमृत्यापि समस्तभीतिकरुणः सर्वं जिघांसुर्मु धा ।।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक्कामुकः।
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ।।५१।।

मुग्धजीवोंमें परतत्त्वोंकी प्रीतिका कारण— संसारी जीवोंमे जो ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है वह इन्द्रियोंके सहारे प्रकट होता है। इन्द्रियोंके निमित्तसे सुख मिलने के कारण इस जीवकी इन्द्रियोंमें प्रीति होती है और इन इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञानके आश्रयभूत जो बाह्यपदार्थ हैं, जिन्हें भोग विषय कहते हैं उनमें भी प्रीति होती है। सांसारिक सुख मिलनेमें द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयभूत पदार्थ—इन तीनका सम्बन्ध होता है तब सुखकी कल्पना बनती है। द्रव्येन्द्रिय तो जो शरीरमें प्रकट हैं, कान, आंख, नाक, जिह्वा, त्वचा ये तो द्रव्येन्द्रिय हैं और इन इन्द्रियोंके माध्यमसे जो विकल्प बनते हैं, ज्ञान किया जाता है वह विकल्प है। भावेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानइन्द्रिय, और जिस पदार्थका विचार करके ऐसा ज्ञान और आनन्द बनता है वह पदार्थ कहलाता है विषय। मोही जीवकी इन तीनोंमे प्रीति होती है। इसी प्रीतिके कारण मोही जीव विषयान्ध हो जाते हैं।

भोगोंकी विषमता— इस जीवने इन भोगोंको भव-भवमें भोगे हैं। ये भोग बड़े विषम हैं, सर्प डसे तो एक बार मरण होता है, किन्तु इन भोगोंकी प्रीतिसे डसा हुआ प्राणी भव-भवमें जन्म और मरण करता है। ऐसे भोगोंकी जिनके अभिलाषा लग रही है, ऐसे ये संसारी जीव अपनी होनहार बिगाड़ते हैं और मिथ्या विषयोंको ग्रहण करके समस्त गुणोंका घात करते हैं। मोही जानता है कि मैंने भोगोंको भोगकर सुख प्राप्त किया है, इसने तो उल्टा भोगों पर दृष्टि होनेसे जो आत्मामें अनन्त आनन्दका स्वभाव था

उसका घात किया गया है। यह संसारी मोही प्राणी अवि
हित है, किसमें अहित है ? इसका कुछ विवेक नहीं जग रह
मोह इन कल्पनावोंमें अहित भरा है। लोग इन्हें हितरूप मान
करो कि अचानक ही अभी देहान्त हो जाय तो क्या रहा इ
यहां से निकलकर जहा गया सो गया। इसका यहां कुछ भी न
जितने दिन और जिन्दा है उतने दिन मोह और रागमें आगे
अपना घात किए जा रहा है।

निवृत्तिकी आवश्यकता— जैसे लोग व्यापार करके अ
करके अन्तमें कभी तो निवृत्त होते हैं, यों ही समझिये कि गृह
कुछ संभालते हुए भी इस ही जीवनमें कभी तो इनसे निवृत्त होना
जैन सिद्धान्तमें यह प्राचीन परम्परा थी कि जब घरके लड़के ल
हो जाते थे तो बिरादरी के लोगोंको बुलाकर उन लड़कोंको का
तिलक कर दिया जाता था। अर्थात् उस दिनसे अब पिता गृहभारसे
हो गया। अब धर्मध्यानमें ही अधिक समय व्यतीत करेगा। अब त
आयु व्यतीत हो जाने पर भी, बड़ा बुढापा हो जाने पर भी सम्पदाके
की तृष्णामें फर्क नहीं डाला जाता है, मोह ऐसा लगा है, और जिस
भी कदाचित् मरण हो गया तो फिर यहां का क्या अपना रहा ? र
समागम तो किसी दिन छूटेंगे ही एकदम पूरे के पूरे। उससे पहिले इ
जीवनमें सम्यग्ज्ञान जगाकर भेदविज्ञानके बलसे अभीसे ही अपने उपयो
अपने को समस्त वैभवसे छूटा हुआ मान लें और अपने स्वयके स्वरूपर
अपनेको स्वीकार करलें तो इस परमार्थकी स्वीकारतामें इसे शुद्ध आन
मिलेगा।

व्यर्थ व अनर्थक कल्पनायें— भला रातदिन चौबीस घंटे निरन्त
विकल्प विकल्पमें ही तो गुजर रहे हैं। किस समय पर वस्तुवोंके विकल्पका
त्यागकर आरामसे बैठ पाते हैं ? २४ घटे विकल्पोंमें ही बिताने से कुछ
सिद्धि भी हो सकेगी क्या ? सिद्धि भी कुछ नहीं। जो होना होता है यहां,
वह अपने भाग्यके अनुसार होता ही है। पर विकल्प मचानेके कारण, भारी
सोच विचार करनेके कारण सम्पदाकी सिद्धि नहीं होती है। ये पञ्चेन्द्रिय
के भोगके साधन विषयभूत पदार्थ स्वप्नवत् हैं, इनका सेवन भी स्वप्नवत्
है, तात्त्विक बात कुछ नहीं है। कल्पनाएँ जगीं और विवश हो गया। जैसे
जैसे कामवासना को संस्कृतमें मनोज बोलते हैं, अर्थात् चीज कुछ नहीं
है, शरीरमें कोई फोड़ा फुंसी हो गयी तो कहो कि भाई बड़ी वेदना है,
यह बड़ी फुंसी हो गयी, पर कामवेदनामे कहां वेदना भरी है ? न फोड़ा है,

न फुंसी है, न बुखार है, न खांसी है और कोई समय भी उसका नियत नहीं है, इसका नाम मनोज है। मनमें भाव आया, विकल्प आया, विचार पैदा हुआ, लो कामवेदना जग गयी। है कुछ नहीं। तात्त्विक बात भी नहीं है, आधारभूत तत्त्व भी नहीं, लेकिन मनके ख्याल वेदना से पीड़ित हो गया। ऐसे ही ये पञ्चेन्द्रियके विषय भी केवल कल्पनाके ख्यालसे सुख माने जाने के लिए बन गये हैं।

व्यामुग्ध प्राणियोंका अविवेक— इन असार भिन्न विषयोंसे यह मोही जीव अपने आपके स्वरूपको न्यारा नहीं कर पाता है, और जो अन्तरंगमें तरंगे उठ रही हैं, विचार बन रहे हैं उनसे भी न्यारा अपने आपको नहीं जान पाता है, यह अविवेक ही तो है। जैसे हाथीके आगे खाने के लिए हलुवा भी रख दो, घास भी रख दो तो उसे यह विवेक नहीं है कि घासको अलग खा ले और हलुवाको अलग खाकर उसका स्वाद लें। वह तो हलुवा और घास दोनोंको लपेटकर खाता है। ऐसे ही यह अज्ञानी जीव ज्ञान और ज्ञेयका अलग विभाग नहीं कर पाता। ज्ञानका अर्थ है जो जानना है, जाननकी चीज ज्ञान है, ज्ञेयका अर्थ है जाननमें जो बाह्य पदार्थ आता है वह ज्ञेय है, भोजन ज्ञेय है और भोजनविषयक ज्ञान ज्ञान है। यह मोही जीव इस ज्ञानको, उस ज्ञेयको एक साथ लपेटकर स्वाद लेता है। इसको यह विवेक नहीं जग पाता कि मैं तो कल्पनावोंका स्वाद ले रहा हूं, तद्विषयक ज्ञानका अनुभवन कर रहा हूं। भोजन अथवा रस तो मेरे आत्माको छूता तक भी नहीं है। जैसे आकाश किसी पदार्थको छूता नहीं है। आकाशमे सभी चीजें पड़ी हैं, मगर आकाशको कोई छू नहीं सकता। कहां से छुये। आकाशमे रूप रस आदिक हैं ही नहीं। आकाशकी तरह ही निर्लेप अमूर्त यह आत्मा है। इस आत्माको भोजन छूता तक भी नहीं है, फिर भोजनका हम क्या रस ग्रहण करते हैं? हां, हममें कला है कि हम भोजन सम्बन्धी ज्ञान कर लेते हैं। उस ज्ञानका तो हम स्वाद लेते हैं और मानते यह हैं कि हमने भोजनका स्वाद लिया। ज्ञान और ज्ञेयको एकमेक मिला कर यह मोही जीव अपना सुख बनाता है। यह अज्ञान है।

पर्यायव्यामोहमें परलोककी मान्यताका अभाव— इस मोही जीवको परलोकका भी भय नहीं रहा। जैसे इस भवमे पुण्य पाप किए जा रहें हैं, इनका उदयकाल परभवमें आयेगा, इसका इसे विश्वास नहीं है। भला एक बात तो बतलावो कि जैसे हाथ पैर, मुँह नाक, आंख कान पुण्यवान् जीवके हैं वैसे ही हाथ पैर नाक आंख कान दूसरे गरीबके भी हैं। फर्क क्या हुआ कि यह रईस तो बैठे बैठे ही थोड़ेसे श्रमसे लाभ लेता है और यह गरीब

लकड़ी घास जोड़ जोड़कर मुश्किलसे ८ आने, १० आने दिन भरमें कमाकर अपनी उदरपूर्ति करता है। यह अन्तर कहांसे आ गया ? कोई वैज्ञानिक या कोई ज्ञाता पंडित हाथ पैरकी शकल सूरत देखकर बताये। यह अन्तर है पूर्वकृत पुण्य और पापका। कदाचित् पापका उदय भी चल रहा हो तो भी ज्ञानीपुरुष उस पापकी स्थितिको अपनाते नहीं हैं। ज्ञानी तो अपने आप के स्वरूपमें घटमें विराजमान् जो कारणप्रभु है, चैतन्यस्वरूप है उसको ही अपनाता है, उसमें अडिग श्रद्धा है। मैं सबसे न्यारा ज्ञान और आनन्द रूप हूं। इस ज्ञानी जीवको परलोकका कोई भय नहीं है। किसीके चित्तमें परलोककी श्रद्धा आ जाय तो उससे पाप न होगा। जो ऐसा ही मान रहे हैं, जो कुछ हैं हम यही तो हैं, मरने पर तो बिल्कुल ही मिट गए, वे पुरुष अन्याय पापप्रवृत्तियोंसे विराम नहीं ले पाते हैं। जियो सुखसे, चाहे अन्याय करना हो, चाहे चोरी करना हो, चाहे धोखा देना हो, किसी भी प्रकार सांसारिक विषयसुखोंमें फर्क न आना चाहिए। उनकी यह बुद्धि होती है, जो परलोककी श्रद्धासे रहित हैं।

व्यामोहमें दयाहीनता— इन मोही जीवोंको अपनी सत्तामें व परलोकमें विश्वास नहीं होता। इस कारण ये दयाहीन भी रहते हैं। कोई जीव मांसका लोलुपी हो तो वह कुछ भी करुणा उस जीवकी तड़फनमें नहीं ला पाता है। ऐसा तीव्र मोह है, विषयोंकी अधिक अभिलाषा है जिससे उनके चित्तमें दया नहीं समाती है। अरे जो मोही अपने आपपर दया नहीं करना चाहते, वे दूसरे जीवोंपर क्या कर सकेंगे ? खुदको भी विषयभोगोंके भाड़में भूनते चले जा रहे हैं। अपने आपके कल्याणके लिए दो क्षण भी कुछ चिन्तन नहीं करना चाहता। रात दिन परिग्रहकी धुनमें, वृत्तिमें संचय के विकल्प बनाये चले जाते हैं और धर्मके खातिर जो कि वास्तविक शरण है, मरने पर भी हमारे साथ न जायेगा, उस धर्मपर दृष्टि अत्यन्त गौण है। कमाने और गप्पोंसे कुछ समय मिल गया तो धर्मकी भी खबर ले ली जा ऐसा परिणाम रहता है और कोई तो धर्मकी इतनी भी दृष्टि नहीं रखते ये मोही प्राणी दयाहीन हैं। अपने आपको विषयकषायोंसे दूर रखना यही वास्तविक दया है। जिसमें ऐसी दया बसी होती है वह जीव बाहरमें अन्याय नहीं कर सकता; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन ५ पापों में आसक्त नहीं रह सकता।

व्यामोहके कठोर परिणाम— मोही जीव अपने पाये हुए इस देहको ही यह मैं हू, ऐसा मानते हैं। इस देहसे निराला चैतन्यस्वरूपमात्र मैं कुछ हूं इस ओर जिसकी दृष्टि ही नहीं जाती, वह अज्ञानी कठोरपरिणामी है। न

अपने आपको यह कल्याणमार्गमें लगा पाता है और न दूसरोंको यह कल्याणमार्गमें लगा पाता है। यही इसका कठोर परिणाम है। साधुजनोंने जिसको त्यागा है, जिससे ग्लानिकी है ऐसे भोगविषयोंको यह मोही जीव निरन्तर चाहता रहता है। इन भोगविषयोंमें प्रधान विकट कुत्सित भोग है तो है स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी।

धिक् धिक् कामभाव—एक राजा था। उसे कहीं कोई देव सिद्ध हो गया। उस देव ने उसे एक अमरफल दिया और कहा यह अमरफल है। इसे जो खायेगा वह चिरकाल तक जीवित रहेगा। राजाने वह अमरफल अपनी रानीको दे दिया। रानीका चित्त एक कोतवालसे अनुरक्त था। रानी ने वह अमरफल कोतवालको दे दिया। कोतवालका चित्त किसी वेश्यामें अनुरक्त था। सो उसने वह फल वेश्याको दे दिया। वेश्याने सोचा कि यदि यह फल राजाको दे दूं तो मुझे बहुत इनाम मिलेगा। सो वेश्याने राजा को वह फल दे दिया। राजा उस फलको देखकर पहिचान गया। छान बीन करने पर उसने सारा पता लगा लिया। सोचा ओह यह वही फल है जिसको हमने रानीको दिया था, पर इस इस तरहसे यह वेश्याके हाथ पहुंच गया। तो राजा सोचता है—"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः। अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥" ओह! जिस रानीको मैं बहुत चाहता था, वह रानी परपुरुषमें आसक्त है, कोतवाल में और वह कोतवाल रानीमें न आसक्त होकर वेश्यामें आसक्त है। धिक्कार है रानीको, धिक्कार है कोतवालको और धिक्कार इस कामभाव को व धिक्कार है मुझे, जो व्यर्थ ही रानीमें आसक्त हो रहा हूं। यह स्थिति है इस संसारकी।

उच्छिष्ट भोगोंकी अरम्यता—साधुवों ने जिसको विष जानकर त्याग दिया, जिस विकारको संसारमें भटकाने वाला समझकर छोड़ दिया उसको यह संसारी मोही प्राणी सेवन करता हुआ थोड़ी भी लाज नहीं करता है। जितने भी हम आपको सम्पदा विषयभोगके साधन, जो कुछ भी मिले हैं ये क्या बिल्कुल नये हैं? अरे इन सबको आपही ने स्वयं अनेक भवोंमें भोग डाला है और छोड़ दिया है। ये सब आपके जूठे हैं और इतना ही नहीं, संसारके अन्य जीवोंने भी इन्हें भव-भवमें भोग डाला है और छोड़ दिया है। यह सब उच्छिष्ट हैं। अपना ही जूठा भोजन बहुत देरका रक्खा हुआ खुद नहीं खाया जाता है। दूसरेका जूठा भोजन भी नहीं खाया जात पर ये समस्त भोग विषयसाधन ये अनन्त भवोंके जूठे हैं। इन्हें यह मोह बड़े प्रेमसे, अनुरागसे सेव रहा है। कुछ भी अटक नहीं होती है। जिसका

चित्त काम क्रोध आदिक कषायोंके मोह ग्रहोंके वशमें है, पिशाचोंके वशमें है वह पुरुष क्यासे क्या अनर्थ नहीं कर सकता ? कामकी तीव्र वेदनाके लिए तो कामी पुरुष क्यासे क्या अनर्थ नहीं कर सकता, और इसी तरह क्रोध की तीव्र वेदना हो तो क्रोधी पुरुष भी क्या अनर्थ नहीं कर सकता ?

कषायकी भटकन— इन सभी कषायोंके वश हुआ यह मोही प्राणी संसारमें रुलता भटकता चला जा रहा है। इसके रुलनेका कारण है मोह। सो ऐसे भटकता भी जाता और मोह भी करता जाता है। इस मोहसे विराम नहीं लेता। सब अकार्य काम करता है। अपने भी जीवनमें देखो क्या-क्या नहीं चाहते हैं गृहस्थजन ? प्रायः एक विषयकी पूर्तिके ही कारण तो कितना आरम्भ और परिग्रह अथवा विश्वासघात आदिक अनेक पाप करते जाते हैं, और उनमें चैन मानते जाते हैं। चैन होता नहीं है, दुःखी बने रहते हैं, पर चैनका कारण उन्हीं सब खोटी प्रवृत्तियोंको मानते हैं।

अभिलापसंकटहरणका उपाय— ये विषय और कषाय अनर्थकी जड़ हैं। विषयोंकी अभिलाषा तीन लोककी सम्पदा भी मिल जाय तो भी पूरी नहीं होती। ये विषय ज्यों ज्यों भोगे जाते हैं त्यों-त्यों वृद्धिगत होते जाते हैं। आत्माका अनर्थ करने वाले ये विषय और कषाय हैं। इन पर विजय करना कल्याणार्थीका कर्तव्य है। इन पर विजय एक शुद्ध आत्मज्ञानसे ही हो सकता है, जहा अपनेको ज्ञानमात्र स्वीकार किया, वहां फिर यह विषय और कषायोंकी वासना नहीं जगती है। अपनेको निरन्तर ऐसा माननेका यत्न करो कि मैं सबसे न्यारा, केवल अपने ज्ञान और आनन्दके स्वभावरूप हूं। सहजस्वरूपमात्र अपने आपको स्वीकार कर लेनेमें समस्त संकटोंका क्षय हो जाता है।

सो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते।
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिद कालानिलोन्मूलितम् ॥
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्य सितरा प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किम्।
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

विनश्वर समागमसे सावधान रहनेका संबोधन— इस संसारका चारित्र क्षणभंगुर स्पष्ट दीख भी रहा है, तब भी यह जगत् मोहके वशीभूत होकर परको अपना रहा है और विषयोंमें अंध होकर अपने आपको जन्म मरणके वनमें भटका रहा है। हे भ्रात ! देख तू भ्रमको छोड़ दे। क्या यह जगजाल भिन्न असार आंखोंसे प्रत्यक्ष नहीं दिख रहा है। यह जगत् इस कालरूप पवनके द्वारा निर्मूल किया जा रहा है। किसीका कोई मरनेका टाइम नियत नहीं है। गर्भमें ही कोई मर जाय, जन्मते मर जाय, बचपन

में, जवानीमें कभी भी इसकी मृत्यु हो जाती है। किसीके भी स्थिरताका नाम नहीं है। जो जन्मता है सो अवश्य गुजरेगा। मनुष्य वही धर्म कर सकता है जो यह मान रहा हो कि मेरे तो सिर पर ही मृत्यु मंडरा रही है। न जाने कब यह दबोच दे, और इस देहको त्यागकर मुझे जाना पड़े ? जब तक ऐसी बुद्धि नहीं जगती है तब तक यह जीव धर्मकार्योंमें श्रद्धापूर्वक नहीं लग पाता है।

मोहकी व्यर्थता-- जिस दिनका प्रभात होता है उस दिनका अन्त भी होता है। यों ही जिसका जन्म होता है उसका मरण भी नियमसे होता है। एक तो स्वयंके भी जीवनका विश्वास नहीं है और फिर इन परपदार्थोंके संयोगका भी कोई विश्वास नहीं है। आज किसी परका संयोग हुआ है, कल न रहे, कुछ ही क्षणोंमे इसका वियोग हो जाय। फिर संयोग भी रहे तो भी क्या फिर किसी पदार्थमें मोह करनेसे पूरा पडेगा ? मोहमें परिचय मानते हैं दूसरे जीवोंका, पर जैसे घरमें जुड़े हुए दो चार ६ जीव हैं वैसे ही इस जगत्के अनन्ते जीव हैं। सब एक समान भिन्न हैं, प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपना अस्तित्व रखता है। किसीका परमें प्रवेश ही नहीं है। कितना ही मोहभाव किया जाय, रागभाव किया जाय फिर भी कोई किसीमें मोह नहीं कर रहे, किन्तु खुद ही अपनी कल्पनामें राग बना रहे हैं।

वस्तुकी निरपेक्षता— कुछ विवेकबलसे काम ले तो यह स्पष्ट है कि समस्त वस्तु स्वतंत्र हैं। फिर भी यह पुरुष मोहमें मस्त होकर परपदार्थों को अपना रहा है। कोई एक ही कार्य हो, उसमें कोई तो लाभ पाता है और कोई हानि पाता है। यह सब अपने-अपने उपादानका प्रभाव है। रात्रि होती है तो कमल तो मुँद जाते हैं और अनेक पुरुष, जो कामीजन हैं, वे अपने चित्तमें मौज मानते हैं। रात्रिमें कमलिनी खिल जाती है और कमल मुँद जाता है। कमलिनी एक और जातिका फूल होता है जिसको गूँथ कर लोग माला बनाते हैं। इसे कुमुदनी भी कहते हैं। कुमद मायने कमल और कुमुदनी मायने कमलिनी। वह कमलिनी खूब रात्रिको विकसित होती है और कमल रात्रिको मुँद जाता है। चकवा चकवीका रात्रिके समय वियोग हो जाता है। चकवा उधर खेद मानता है, चकवी इधर खेद मानती है। रात्रिको उल्लू खुशी मानते हैं, उनको रात्रिमें ही दिखता है। चीज एक है, समय एक है। कोई उस ही समयका ख्याल करके सुखी होता है, कोई दुःखी होता है।

भैया ! सुख और दुःखका कुछ भरोसा भी नहीं है। श्रीरामचन्द्र जी का जब राज्याभिषेक हो रहा था, क्या किसीको कल्पनामें था कि एक आध

घंटे बाद ये सब कुछ छोड़ छोड़कर वनको चल देंगे। न उनको स्वयंको विकल्प था, न उनके पिताको विकल्प था। राम राज्याभिषेक होनेका समय था। कैकेईने दशरथसे अपना स्वीकृत वर मांग लिया। उस समय दशरथ खुद विरक्त होकर साधु होना चाहते थे, उसी प्रसंगमें राज्य राम्को दे रहे थे, दशरथके साथ भरत भी विरक्त होने जा रहे थे, तब कैकेई ने यह सोचकर कि पति भी गया और पुत्र भी गया, इस कारण ऐसा वरदान मांग लें कि पुत्र तो यहां रह जाय पति तो रहेंगे नहीं, दीक्षा ही लेंगे। तब कैकेई ने वर मांगा कि राज्य भरतको दिया जाय। वचनानुसार भरतको राज्य देना निर्णीत हो गया। तब रामने यह सोचकर कि मेरे रहते हुए भरतका प्रताप न बढ़ सकेगा, उसे राजकाजमें यश न मिल पायगा, इसलिए नगरी छोड़कर अपनको जंगल जाना ही श्रेयस्कर है। लो ये सब राज्यकी खुशियां अब इस रूपमें बदल गयीं। यहां भी तो किसी घरमें देखा जाता है कि सुबह तो पुत्र के उत्सवका कैसा समारोह मनाया जा रहा है और सामको जच्चा बच्चाकी तबियत बिगड़ गयी और लो, गुजर गया, तो वे सब खुशियां शोकके रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं। यह समस्त जगत् क्षणभंगुर है। इस क्षणभंगुर लोकमें तू क्यों भ्रम करके किसी पदार्थके संयोग पर इतना हर्ष मान रहा है, बेहोश हो रहा है?

समवर्ती परेतराट्— भैया! मृत्युका नाम यमराज भी है। कोषमें यमराजका नाम समवर्ती व परेतराट् भी बताया है। समवर्तीका अर्थ है सबको समान दृष्टिसे देखने वाला। चाहे बालक हो, जवान हो, बूढा हो, यमराज किसीमें यह पक्ष नहीं करता कि अभी यह बालक है, अभी इसे कैसे हरा जाय? बूढ़े को पहिले हरा जाय, ऐसा पक्ष मानो, इस यमराजके नहीं है। वह सबको एक समान दृष्टिसे निरखता है। चाहे बालक हो, चाहे जवान हो और चाहे बूढ़ा हो, किसीको भी वह हर लेता है। अर्थात् मृत्युका कुछ विश्वास नहीं है। बालक भी मर जाय, जवान भी मर जाय, बूढ़ा भी मर जाय। आयुके क्षयका कोई नियत टाइम नहीं है, इसे परेतराट् भी बोलते हैं। परेत मायने श्मशान, राट् माने राजा। यह यमराज, परेतराट् है, मरघटका राजा है।

यथार्थ ज्ञानमें निराकुलता— भैया! इतनी क्षणभंगुरता इस जगतमें आंखें भी देख रही हैं, फिर भी चित्तमें नहीं समाती कि इन विषयोंमें ही फंस-फंस कर अपना कौनसा उत्थान कर लेंगे, धनका सचय ही कर करके हम अपने आत्माका कौनसा उद्धार कर लेंगे? गृहस्थावस्था है, सब कुछ करना पड़ता है, फिर भी जो यथार्थ स्वरूप है उस ओरसे मुँह न मोड़ना

चाहिए। प्रत्येक पदार्थ स्वतःसिद्ध व पूर्ण स्वतन्त्र है। फिर मेरा किसी अन्यसे क्या सम्बन्ध ? समस्त परपदार्थोंसे विविक्त व अपने एकत्वमें तन्मय निज अन्तस्तत्त्वका परिज्ञान करो। सम्यग्ज्ञानके रहते हुए इस गृहस्थको भी निराकुलता अन्तरङ्गमें रहेगी। मिथ्या अन्धकारमे तो कोई निराकुल रह ही नहीं सकता।

ध्रुवतत्त्वके आलम्बनकी दृष्टि— जगत्में जो कुछ भी दिख रहा है अथवा जो कुछ सत् है, वह द्रव्यदृष्टिसे तो ध्रुव है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे अध्रुव है। ये पर्याय, ये देह, ये सकल सूरतें सब नियमसे मिटेंगी, किन्तु इनका मूल आधारभूत जीवतत्त्व और पुद्गल अणु, इनका कभी भी तो विनाश न होगा। हम क्षणभंगुरताकी बात कहकर स्थिर जो आत्मतत्त्व है, उस तत्त्व तक न पहुंचे तो अनित्यका गान गाना भी हमारे लिए क्या लाभ देगा ? सब मरते हैं तो ठीक है, अब हमें क्या करना चाहिए ? जो कभी नहीं मरता है ऐसा जो अंतस्तत्त्व है, ज्ञानस्वरूप है, उसका ही तो आलम्बन लेना चाहिए। यह लक्ष्मी बड़े बड़े पुण्यवान् चक्रवर्तियोंके भी शाश्वत नहीं रही, फिर जो पुण्यरहित हम आप लोग हैं, उनके तो रहेगी ही क्या ?

गृहस्थ विचार— गृहस्थ कभी तो केवल धर्ममें अपनी प्रवृत्ति करता है। जैसे दशलाक्षणीके दिनोंमें दो चार दिनके लिए उपवास करना, गृहकी ममता त्यागना, रोजगार आदि भी न करना, मंदिरमें ही रहकर धर्मसाधना करना—ऐसा सब प्रकारसे निष्पाप जीवन व्यतीत करना चाहता है। कभी तो यो धर्ममय स्थिति बनती है और कभी पापात्मक स्थिति बनती है और कभी पुण्य पाप दोनों साथ चला करते हैं। यह चर्चा गृहस्थ आश्रम की करी जा रही है। गृहस्थको गृहस्थधर्म भली प्रकार निभाते हुए भी आत्महितके लिए उद्यम करना चाहिए। गृहस्थ अपने आश्रमको, धर्मको, परिस्थितिको निम्न श्रेणीका जानता है, इसमे सर्वथा हित नहीं है। उसकी ये सब प्रवृत्तियां विचाराधीन जैसी हैं। जैसे अधा पुरुष रस्सी भांजता है तो पीछे उकलती जाती है, उसे यह तो नहीं दिख रहा है, कि पीछे रस्सी उकल रही है। वह तो भांजता जाता है। तो जैसे अंधा रस्सीको भांजता जाता है पीछे उकलती जाती है, काम सिद्ध नहीं हो पाता, ऐसे ही गृहस्थ धर्ममें भी कुछ धर्म किया, फिर पापकी बातें आयीं, फिर धर्म किया, फिर पापकी बातें हैं, यों यह गृहस्थ-आश्रम भी कोई विशेष फलको देने वाला नहीं है, ऐसा साधुजन सोच रहे हैं और गृहस्थजन भी तो सोचा करते हैं।

परिजनोंका परिजनके आत्मासे अनुरागका अभाव— वस्तुका स्वरूप

सिद्धान्त शास्त्रोंमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे तन्मय बताया गया है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर रहता है और निरन्तर ही नवीन नवीन अवस्थाओंरूप बनता है और उसकी वर्तमान दशा उस वस्तुमें विलीन हो जाती है। अब व्यवहार जो व्यवहारी जीवोंका है, वह पर्यायमें चलता है। कोई मनुष्य किसीके भी अनुराग नहीं करता। जो देहमुक्त पर्याय है, व्यञ्जन पर्याय है, इसमें ही ये राग किया करते हैं, क्योंकि आत्मा तो सब एक समान ही हैं। पिता पुत्रके आत्माका ध्यान करके राग नहीं करता, किन्तु जो वह पुत्र है, विभाव व्यञ्जन पर्याय है; देह, जीव और कर्म इन तीनका पिडरूप जो यह मनुष्य पर्याय है, इसमें राग करते हैं। पर आत्मा क्या है? वैसे स्वरूपको निहारकर राग नहीं करता। किसी पिताको यदि पुत्रकी आत्मासे राग होता है तो जैसे उस ही आत्माका उत्थान हो, सन्मार्ग मिले, वैसा उपाय रचता है। बजाय विवाह करने के या अन्य तृष्णाओंमें फसानेके धार्मिक विद्या पढ़ाता और उसे ब्रह्मचारी रहनेके लिए प्रेरणा देता, ज्ञानके साधन जुटाता, किन्तु कौन पिता ऐसा करता है ? ऐसा पढाओ जिससे यह कुछ धनार्जन कर सके और इसका शीघ्र विवाह करायें, जिससे अपने नाती पोतियोंका सुख देख सकें, यह भावना रहती है। पुत्रकी आत्माका वास्तवमें उद्धार हो और यह सत्य आनन्द ज्ञान का प्रकाश पाये—ऐसी भावना नहीं रहती है। कोई बहुत बडे ही पुण्यवान् धार्मिक माता पिता होंगे जो अपने बच्चेकी आत्माके प्रति वास्तविक उपकार की भावना रखते हैं।

बच्चेकी आत्मासे अनुकरणीय अनुरागका एक उदाहरण—कुन्दकुन्द मुनिराज बड़े प्रसिद्ध ऋषिसंत हुए हैं। शास्त्रोंमें जब मंगलाचरणको पढ़ते हैं—

> मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
> मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्या, जैनधर्मोस्तु मङ्गलम्॥

वीर और गौतम गणधरको मङ्गलवाद कहकर तीसरी बारमें मगलं कुन्दकुन्दा द्या कहा करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यादिक आचार्य मङ्गल हों। ये कुन्दकुन्ददेव अध्यात्मके प्रकांड विद्वान् और अनुभवी ऋषि थे। जब इनका बचपन था, जबकि पालनेमें झूलनेका समय था तो कुन्दकुन्दाचार्यको उनकी मा पालने झुलाती हुई आत्मतत्त्वके वर्णन करने वाले एक गीतको गाया करती थीं—

> शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
> संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां, श्री कुन्दकुन्दं जननीदमूचे॥

कुन्दकुन्दकी मा कुन्दकुन्द बच्चेको कह रही है कि हे बालक ! तू तो

शुद्ध है, ज्ञानमय है, कर्मकलंक, भावकर्मसे रहित है, संसारकी मायासे तू पृथक् है। संसारके स्वप्नोंको, मोहकी निद्राको तू छोड़ दे-इस प्रकारका गीत उस कुन्दकुन्दकी मां उस कुन्दकुन्द बच्चेको सुना रही है। यह है जिसको सम्यक्त्व जग गया और किसी आत्माके वास्तविक कल्याणकी भावना जगे उसका कर्तव्य।

भैया! किसी का कोई कुछ करेगा भी क्या? सब अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं, सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं। कोई किसी दूसरे का अधिकारी नहीं है, न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है। सर्व स्वतंत्र हैं। दिन रातके समयमें कुछ भी मिनट अपनी स्वतंत्रताका ध्यान तो करना चाहिए। दूसरोंकी चिन्ता ही कर करके, विकल्पोको ही अपने लिए बना बनाकर समय गुजारनेसे लाभ क्या मिलेगा? ये समस्त समागम क्षणभंगुर हैं, बबूलाकी तरह हैं। जो पानीमें बनता है ना, अंदरकी बूँद आनेसे वह बबूला कुछ देर तक ठहर जाय, इसमें तो आश्चर्य मानों, पर बने और तुरन्त मिट जाय, इसमे क्या आश्चर्य माना जाय? बबूलेका तो स्वभाव ही है कि बनकर तुरन्त मिट जाय। ऐसी ही प्रकृति है जन्मकी। जन्म होनेके बाद शीघ्र मरण हो जाता है। कोई बहुत देर तक जीवित रहता है तो यह है आश्चर्यकी बात।

सुविधाका लाभ उठानेका अनुरोध— हम आप आज अच्छी स्थिति में इतने समय तक बने हुए हैं। कल्पना करो कि आये थे न अनेक, ऐसे अवसर इस ही जीवनमें, कि जीवित रहने की कोई आशा न थी, उस ही समय मर जाते तो क्या यह सामने आज होता? उस समय हम आप बच गए, आज इतनी सामर्थ्यमें हैं कि ज्ञानबल भी हमारा उत्तम है तो इस सुविधाका लाभ हम क्यों न उठायें? मोहमें तो कुछ काम भी नहीं सरता। मोह ममता रखने से क्या एकदम धन बढ़ता जाता है या जो बात चाहते हैं उसकी सिद्धि हो ही जाती है? कुछ भी तो काम इस ममतासे नहीं बन रहा है, फिर भी यह मोही जीव ममता किए बिना रह नहीं पाता।

परिजनों व मित्रजनोंका अन्तिम व्यवहार— जरा अपने आपके सम्बन्धमें भी विचार करो। यह दिखने वाला देह, यह भी किसी दिन मित्र जनों और परिजनोंके द्वारा ही भस्म कर दिया जायगा। दो मित्रोंमें बड़ी मित्रता थी। एक मित्र दूसरे मित्रसे बोला कि मैं तुम्हारा बड़ा सत्कार करता हू। मैंने कभी तुम्हारी बेअदबी नहीं की, किन्तु सुनिये— 'यार मरते वक्त होगा एक बेअदबीका कार। यार तो पैदल चलेंगे, हम जनाजे पर सवार॥' ऐ दोस्त– अपनी जिन्दगीमे मैंने तुम्हारा कोई अपमान नहीं किया

विनय ही करते रहे, श्रद्द ही करते रहे, लेकिन अब क्या होगा, मरते वक्त जरूर हम तुम्हारी बेअदबी करेंगे, क्योंकि तुम तो पैदल चलोगे और हम तुम्हारे सिरपर सवार होकर चलेंगे। ये परिजन मित्रजन इनकी तुम्हारे उपकारके प्रति इतनी ही कृतज्ञता है कि तुम्हारे वैरी इस तुम्हारे देहको शीघ्र ही जला देंगे। इनकी सेवामें जो तुम्हारा भाव गुजर गया है उसका फल तुम्हें ही मिलेगा। वे कुटुम्बी लोग, परिजन लोग तुम्हारा कुछ भी भला न कर पायेंगे। वे तो मरण होते ही इस तुम्हारे देहको शीघ्र ही जला देंगे। इससे आगे और कोई कुछ न करेंगे।

समागमकी अनित्यताके निर्णयका लाभ— भैया! जैसे बिजली चंचल होती है, चमकी और थोड़ी ही देरमें समाप्त हो जाती है, ऐसे ही यह सारा संयोग धन वैभव कुटुम्ब परिजन–ये समागम सब विद्युत्वत चंचल हैं, थोड़े समयको मिले हैं, फिर वियोग होगा। और भी देखो— मौज और संयोगके दिन जाते भी नहीं जाते हैं। दुःख विपदा आ पड़ी तो वह समय बड़ी मुश्किलसे कटता है। जो जीव समागममें हर्ष मानते हैं उनको ही ये दिन देखने पड़ते हैं कि वे विह्वल हो जाते हैं। पहिले से ही यह निर्णय किए रहो कि जो कुछ भी समागम मिले हैं वे नियमसे शीघ्र ही बिछुड़ जायेंगे। ऐसा पहिलेसे ही निर्णय रहे तो बिछुड़ने के समय यह प्राणी विह्वल न होगा। उस समय वह यही सोचेगा कि हम तो पहिले से ही जान रहे थे कि ये समागम किसी दिन बिछुड़ जायेंगे। जो जान रहे थे सो ही आज हो गया। यथार्थज्ञानी पुरुष विह्वल नहीं होता। विह्वलता मिथ्याज्ञानमें ही होती है।

निर्भ्रान्त परिणतिमें क्लेशका अभाव— इस जीवनको दुःख रंच मात्र भी नहीं है। काहेका क्लेश? जितनी भी चीजें हैं, जिस रूप हैं, उन्हें देख लीजिए, ये निर्बाध हैं, इनमें किसी परपदार्थका प्रवेश नहीं है। समस्त परपदार्थोंका मुझमें अत्यन्ताभाव है। मैं त्रिकाल भी परके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप हो नहीं सकता। यों स्वयं स्वरक्षित हूं, आनन्दमय हूं, ज्ञानप्रकाश ही मेरा स्वरूप है। मुझमें क्लेशका अवसर है कहां? पर ऐसे शुद्ध आनन्द घन सहजस्वरूपका ध्यान न करके नाना विकल्पोंमें हम फंस जाते हैं और परपदार्थोंकी अनुकूल प्रतिकूल परिणति देखकर हम दुःखी रहा करते हैं। हे आत्मन्! तू भ्रान्ति तज, वस्तुका यथार्थस्वरूप जान। जो विनश्वर पदार्थ हैं, मिट जाने वाले समागम हैं, उन समागमोंकी क्यों अन्तरङ्गसे वाञ्छा कर रहा है? जो कुछ मिला है वह सब पञ्चेन्द्रियके विषयका साधनभूत भोग है। इन भोगोंमें तू आसक्त मत हो और आत्माका जो सहज

ज्ञानानन्दस्वरूप है उसकी ओर रुचि कर। खुदके ही आलम्बनसे समस्त संकट कह सकेंगे।

> संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलम् ।
> दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ॥
> तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै—
> र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान् निर्धनः ॥५३॥

भोगाकर्षणका फल— इस जगत्को क्षणभंगुर न जानकर और अपने लिए हितकारी मानकर यहांके, भोगोंकी ओर जिस जीवने आकर्षण किया है उसने नरक आदिक खोटी योनियोंमें अनेक दुःख भोगे। हे आत्मन्! तू ने भी इस संसारमें भ्रमण करते हुए नरकादिक योनियोंमें ऐसे कठिन दुःख भोगे हैं, जिनकी यादकी जाय तो अब भी बड़ा उद्वेग हो जायगा।

नारकियोंमें परस्पर दुःखोंकी उदीरणा— नरक गतिमें एक नारकी दूसरे नारकी को देखकर यों टूटता है, जैसे यहां भी एक कुत्ता दूसरे नये कुत्तेको देखकर टूट पड़ता है। पूर्व भवके वे चाहे मां बेटा ही क्यों न हों, नरकमें उत्पन्न होकर वे परस्पर वैरी हो जाते हैं। उनको पूर्वभवका स्मरण भी आये तो उल्टे ढंगसे स्मरण आता है। मां ने बच्चेकी आंखमें काजल लगाया हो, लेकिन नरकगतिमें नारकी को यह याद आयेगी कि इस ने मेरे आंखोंमें अंगुली डाली थी और आंखे फोड़नेका यत्न किया था। सब उल्टा ही उल्टा उन नारकी जीवोंको बोध होता है। नारकी जीवोंका शरीर वैक्रियक है। उन्हें तलवार आदि शस्त्रोंके ढूँढनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती उनके मनमें आया कि मैं इस नारकी को तलवारसे मार दूं तो हाथ उठाते ही संकल्प करते ही तलवारकी विक्रिया बन जाती है। उनकी इच्छा हुई कि मैं अमुक जीवको सांप बनकर डसूँ तो उनका ही शरीर सांपरूप विक्रियाको धर लेता है।

देहके खण्ड खण्ड होने पर भी नारकियोंकी अकालमृत्युका अभाव— नरकोंमें जो पेड़ हैं उनके भी पत्ते जिस नारकी पर गिर जायें, उस नारकीके शरीरके खण्ड खण्ड हो जाते हैं। नारकी जीव भी नारकियोंके शरीरके तिल-तिल बराबर टुकड़े कर डालते हैं, फिर भी पापका इतना घन उदय है कि शरीरके तिल-तिल बराबर टुकड़े हो जाने से उन्हें तो मर जाना था, लेकिन वे टुकड़े फिर मिलजुल कर पारेकी तरह एक रूप हो जाते हैं ज्योंका त्यों फिर शरीर बन जाता है। उनकी बीचमें आयु खत्म नहीं होती संसारके जीवोंमें से नारकी ही एक ऐसे जीव हैं जो जल्दी मरना पसंद कर

हैं, बाकी कोई जीव मरना पसंद नहीं करता और विचित्रता देखो मनुष्य पशु पक्षी ये जल्दी मरना पसंद नहीं करते, किन्तु अचानक ही मर जाया करते हैं। नारकी जीव मरना पसंद करते हैं लेकिन जितनी आयु बांधकर पैदा हुए हैं उस आयुसे पहिले उनका मरण नहीं होता है। वहां के दुःखोका क्या ठिकाना है ?

पापोंके फलका भोग— जो मनुष्य यहां विषयोंमें अंधे हो गए, परस्त्री सेवनका पाप कर गये, वे मरकर नरकमें जन्म लें तो नारकी जीव ताती गरम लोहेके खम्भमें उन्हें चिपकाते हैं और कहते हैं कि तू इससे भोग कर इससे मिल, ऐसे नाना कठोर वचन कहते हुए लोहेकी गरम पुतलीमें, खम्भे में चिपकाते हैं। कोई मनुष्य मदिराका शौकीन हो तो नरकगतिमें दूसरे नारकी गरम धातु रस यों समझिये जैसे कि लोहे को पिघलाकर पानी बना देवे ऐसा गरम धातुरस उनके मुखमें जबरदस्ती डालते हैं, ले तुझे मदिरा का बड़ा शौक है, अब तू इसे पी ले। यों जो जो भी कठिन पाप यहां किये जाते हैं उन सब पापोका फल नरकगतिमे यों भोगना पड़ता है।

भोगोंकी अभिलाषाका फल दुःसह दुःख— हे आत्मन् ! तू ने इस ससारमें नारकादिक योनियोंके दुःख भोगे हैं, जिनका स्मरण आ जाय तो वह स्मृति कीलीकी तरह चुभती है। उन नरकोंकी बात तो दूर रही, मनुष्य-पर्यायमें ही देख लो, कितने कठिन दुःख हैं। कोई अत्यन्त निर्धन है, किसी को खाने पीनेका भी कोई साजा नहीं है, हाथ पैर भी कोढ़से गल गये हैं, लोग उन्हें अपमान भरे वचन बोला करते हैं। कठिनसे कठिन विपदाएँ यहां मनुष्योंमें ही देख लो। ये सब पापके फल हैं। भोगोंकी अभिलाषा करनेका यह फल होता है। पञ्चेन्द्रियोंके जो ५ विषय हैं। उन विषयोंकी प्रीतिका परिणाम अशुभ परिणाम है। इन विषयोंकी वाञ्छाके फलमें ऐसा कठिन दुःख आ पड़ता है। जब इस जीवको अपने आपके स्वरूपका विवेक नहीं रहा है, जब यह जीव इस क्षणभंगुर जगत्की मायामें रुच रहा है, इस माया से भिन्न मैं कुछ स्वतंत्र सत् हूं—इसका भान भी इसे न रहा तो इस माया के अनुरागके फलमें नरक निगोद जैसी कुयोनियोंमें इसे दुःख भोगना पड़ता है।

विषयासक्तिसे निगोदसम्बन्धी दुःख— नारकी जीव तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं। निगोद जीवोंकी दशा इनसे भी बहुत विकट है। ये निगोद जीव एकेन्द्रिय होते हैं और एकेन्द्रिय होने पर भी इनका शरीर पराश्रित रहता है अथवा सूक्ष्म रहता है। एक श्वासमें १८ बार जन्म और मरण हो जाता है। श्वास भी कौनसी ? नीरोगपुरुषकी नाड़ी जितने समयमें उचकती है

उतने समयका यहां श्वास जानना। एक श्वासके बराबरके समयमें निगोदिया जीव १८ बार जन्ममरण करता है। ऐसे निगोदके दुःख भी इस भोगाभिलाषी जीवने मरकर निगोद बनकर सहे हैं।

उपलब्ध सुयोगके दुरुपयोगका परिणाम— देखो हे आत्मन्! यह मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ जन्म है। तूने विषयोंकी तृष्णा बढायी है जिसके कारण सुख रंच भी नहीं प्राप्त कर सका है। जब तृष्णा लगी हुई है तो चित्त तो आगे के लिए है। पाये हुए समागमका फिर सांसारिक आनन्द भी नहीं रहा। कामके तीक्ष्ण बाणोंसे, कामसे विकृत स्त्री जनोंके कटाक्षोंसे जो आक्रान्त किए गए हैं वे मनुष्य कामवासनाकी दाहसे झुलस गये हैं और झुलसे हुए वृक्षकी भांति कुदशावोंको प्राप्त हो गये हैं। बड़े-बड़े सुभट दिग्गज सिंहोंको मारनेमें कुशल हैं, परन्तु वे ही सुभट कामवासनाके वशीभूत होकर स्त्रीके समक्ष कायर बनकर आशा लगाये फिरते हैं, ये विषय पञ्चेन्द्रियके भोग इस जीवके मनोबल, वचनबल और कायबल तीनोंको हर लेते हैं। ये भोग आपातकालरमणीय हैं अर्थात् जब ये विषय भोगे जा रहे हैं उस काल तो ये सुहावने लगते हैं, किन्तु थोड़ी ही देरके बाद ये ही विषय इस जीवको कष्टकारी बन जायेंगे।

भोगाभिलाषके उत्पात— भैया! लोकमें और है ही क्या? इस लोकमें विषयोंका ख्याल, विषयोंका विवाद, एक देश दूसरे देशको हड़पना चाहता है, एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको हड़पना चाहता है। डाकू भी कुछ छीनकर जान भी लिए जा रहे हैं, कितनी-कितनी तरहके उत्पात हैं? यह तो मनुष्य की बात है। पशु और पक्षियों पर तो और भी बुरी बीत रही है। क्रूर जन जिन्दा ही सूकरोंको अग्निमें भून डालते हैं, अतिरुद्रोंके द्वारा जिन्दा ही मछलियों पर छुरी चला दी जाती है। कुछ जरा विचारो तो अपने बारेमें जरासा अत्यन्त पतला छोटा कांटा भी लग जाय तो उसकी बड़ी वेदना होती है, फिर जिसके गलेपर छुरियां चलायी जाती हैं उनकी कौन जाने? उनके दुःख तो वे ही समझें। ये सब अनर्थ किसलिए हो रहे हैं? एक भोग विषयके पीछे। कितनी निर्दयता है? थोड़ासा रसना इन्द्रियका काल्पनिक स्वाद उन मांसभक्षियोंको मिल जाता है। ऐसे काल्पनिक मौजोंके लिए उन पशु पक्षियोंपर ऐसा प्रहार किया जाता है। कितना कठोर परिणाम है? यह विवाद, विडम्बना एक भोग विषयकी इच्छा पर ही तो है। इन कुकर्मोंका फल बहुत बुरी तरहसे भोगना पड़ता है।

शान्तिके अर्थ भोगपरिहारकी अनिवार्यता— देखो, अपने सहज स्वरूपको, मैं भोगविषयोंकी वाञ्छासे रहित हूं। यदि यथार्थ केवलसहज

स्वरूपका ज्ञान बना सके, जिसके ज्ञानमें भोगसम्बन्धी इच्छा रंच भी न रहे तो विकल्पोंका बहुत बड़ा बोझ टल जायगा। जहां इन्द्रियका बोझ टला कि अपने आपके आत्मामें ही अपूर्व आनन्द जग जायगा। शुद्ध आनन्दकी पूर्ति के लिए भी इन विषयभोगोंका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। इस जीवको कष्ट है कहां? खुद ही अज्ञानतासे विषयोंकी चाह की और उस चाह की दाहमें यह जल उठा, दुःखी हुआ। इस आत्मामे क्लेश है कहां? अज्ञान से परविषयक कल्पनायें उठा उठाकर क्लेशी बन रहे हैं। इस जगतमें क्या कभी किसीकी वाञ्छा पूरी हुई है?

तृष्णाका क्लेश— जैसे प्यासा हिरण रेतीली सूखी नदीमें खड़ा हो वह दूर दृष्टि डालता है तो उसे चमकीला रेत पानीकी तरह नजर आता है जिससे मृग दौड़कर वहां पहुंचता है, दौड़नेकी थकान और बढ़ गयी, प्यास और बढ़ गयी, निकट पहुंचने पर देखा तो वहां पानी कहां रक्खा है? फिर ऊपरको मुँह किया देखा तो दूरकी रेत पानी जैसी मालूम पड़ी, वहां दौड़कर गया तो देखा कि पानीका नाम नहीं है। इसही प्रकार दौड़ लगा लगाकर वह हिरण अपने प्राण गवा देता है। ऐसे ही यह संसारी प्राणी नवीन-नवीन कल्पनाएँ करके विषयोंमें सुख समझ रहा है। ओह! ऐसे साधन जुटाएँ तो उसमें अच्छा आनन्द आयेगा, ऐसा रसीला भोजन बनाकर खावें, ऐसा प्रतिष्ठाका काम करे तो शान्ति मिलेगी, पर शांति संतोष नहीं मिल पाता है, क्योंकि तृष्णा उससे भी अधिक यशकी बन जाती है, अथवा दूसरोंका विशेष परिग्रह देखकर उसके भी परिग्रहकी कामना हो जाती है। तृष्णाके कारण यह जीव सुखसे खा पी भी नहीं सकता है। तृष्णालु पुरुष जो मिला है उसे भी तृष्णाके वश भोग नहीं सकते हैं।

तृष्णामें मानसिक क्लेश— इस मनुष्यने विषयोंकी तृष्णाके वश होकर स्वर्ण, चादी, रत्न आदि इन जड़ वैभवोंको सुखका कारण माना है और चैतन्यपदार्थोंमें स्त्री पुत्रादिकको सुखका कारण माना है। इनका बड़ा अभिलाषी हुवा है, पर लाभ कुछ नहीं मिला। जरा-जरासी घटनापरर त्री से विवाद हो जाया करता है। पुत्रके प्रति तो कभी-कभी मन न मिलनेसे या किसी एक भी आज्ञाका उल्लंघन करने से परस्परमें वैरभाव जग जाता है। इन परिग्रहोसे लेशमात्र भी शान्ति नहीं मिलती। ये परपदार्थ दुःखके कारण नहीं, किन्तु परपदार्थोंकी ओर मोहीजनोंका जो आकर्षण होता है वह आकर्षण दुःखका कारण है। अभिलाषा हुई कि दुःख आ गया। इच्छा के अनुसार चीज न मिले उसका दुःख, कभी कुछ चीज मिल जाय तो जितनी मनमें चाह है उतनी न मिले तो उसका दुःख है। कदाचित् मनकी

चाही हुई चीज भी मिल जाय तो उसमें भी मनकी स्थिरता नहीं है, उससे भी अधिक की यह चाह करने लगता है। तृष्णाके वश हुआ यह जीव सदा ही दुःखी रहता है।

षड्विध विषयतृष्णायें— तृष्णा ६ प्रकारकी हुआ करती है—एक स्पर्शन इन्द्रियकी तृष्णा, सुहावने कोमल शीतल उष्ण पदार्थोंका स्पर्श और उससे भी भयंकर कामवासनाके वश होकर स्त्री पुरुष सम्बन्धी सम्पर्ककी वासना, ये स्पर्शन इन्द्रियके भोग हैं। रसना इन्द्रियका भोग स्वादिष्ट पदार्थों का भक्षण, वह चाहे दोषयुक्त पदार्थ हो, चाहे हिंसासाध्य पदार्थ हो, वह न्यायसे मिले या अन्यायसे मिले, किसी भी प्रकार हो, इसका सेवन करना यह है रसना इन्द्रियका विषय। घ्राणइन्द्रियका विषय है इत्र फुलेल सुगंधका सेवन होना। चक्षुइन्द्रियका विषय है सुन्दर रूपका निरखना और राग-रागनी प्रशंसा सगीतके शब्द सुनना कर्णइन्द्रियका विषय है और छठा विषय है मनका। मेरा यश फैले, दुनिया मुझे जान जाय, यह है मनका विषय। इन ५ इन्द्रिय और मनके विषयमें वाश हुआ यह मुग्ध प्राणी निरन्तर व्याकुल बना रहता है।

भोगियोंको भी भोगोंकी असारताका परिचय— ये सभी विषय असार है। इनकी असारता भोगनेके बाद सब विदित हो जाती है। जसे भोजन कर चुकनेके बाद, स्वादिष्ट मिठाई खा लेनेके बाद, फिर मिठाईका महत्त्व समझमें नहीं रहता, और वह असार ज्ञात होती है। कभी-कभी तो यह ख्याल होता है कि न मिलती खानेको तो अच्छा था। अब पेटमें अफारा चढ़ा है, और-और प्रकारके रोग हो गए हैं। भोगनेके बाद भोगोंकी असारता मालूम होती है। सभी इन्द्रियोंके भोग भोगनेके बाद असारता मालूम होती है। ये यदि अधिक मिलें तो फिर यहा ही मुग्धोंको सुहाते नहीं हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय कान रात दिन भोग सकता है? समागम मिलें तो फिर वे सुहाते नहीं हैं। भोगनेके लिए अनेक प्रकारकी रसीली वस्तुयें सामने रक्खी हों तो फिर वे सुहाती नहीं हैं। थोडेसे गंधके लिए दिल चाहता है, मगर खूब सुगंधित इत्र फुलेल वगैरह कुछ चीजें इकट्ठी नाक में धर दी जायें तो फिर वे सुहाती नहीं हैं। कदाचित् कभी कोई सुन्दररूप देखनेमे आये तो सुहाता है और आंखोंके सामने ही धर दिया जाय तो कहा तक आंखोंकी पलक खोलकर देखनेका श्रम किया जायगा? फिर रूप का देखना भी सुहाता नहीं है। इन भोगोंकी असारता भोगनेके बाद प्रायः सबको विदित हो जाती है।

देहकी अशुचिता— रूपमें मोहियोंको रुचिकर दूसरोंका देह लगना

है। देह क्या है? ऊपर चामकी चादर मढ़ी है। भीतर हड्डी, मास, मज्जा, खून, पीप आदिका ढेर है। और तो जाने दो। कितना ही सज धजकर, चमकीला बनकर कोई बैठा हो, पर नाकसे नकेऊकी बाती निकल पडे तो उसके देखने तकको भी जी नहीं चाहता। अपवित्र चीज जो शरीरके अन्दर पड़ी हुई है, उसका स्मरण रहे तो शरीरका रूप फिर सुहावना प्रतीत नहीं हो सकता। ये विषय असार हैं। यह भान भोगको भोगने के बाद होता है। भोगनेसे पहिले ही असारता विदित हो तो जीवका बड़ा कल्याण है।

विषयसेवनकी विडम्बनायें— भोग भोगनेसे भोगसे विराम नहीं मिलता, किन्तु तृष्णा बढती है। देखो एक-एक इन्द्रियके वश होकर भिन्न-भिन्न जीवोंने अपने प्राण गंवाये। हाथी ने स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर, गड्ढेमें गिरकर प्राण गवाए, मछली ने रसना इन्द्रियके वश होकर अपना कंठ कीलमें चुभोकर प्राण गंवाये, भंवरेने घ्राणेन्द्रियके वश होकर कमलमें बंद होकर अपने प्राण गंवाये, नेत्र इन्द्रियके वश होकर पतंगोंने दीपकमें जलकर अपने प्राण गंवाये और कर्णइन्द्रियके वश होकर सांप हिरण आदि ने अपने प्राण गवाये। ये जीव एक-एक इन्द्रियके वश होकर मरण दशाको प्राप्त हुए, फिर मनुष्योंकी तो बात सोचो। इनके पीछे पांचों ही विषय बड़े तेज लगे हुए हैं। राग रागनियोंके सुननेका भी यह तीव्र लोलुपी है। रूप देखने, गंध सूँघने आदिका यह तीव्र लोलुपी है, रसोंका भी यह विशेष लोलुपी है, कामवासनाका तो यह कीड़ा बन गया है। ऐसे ५ इन्द्रियके वश हुआ यह मनुष्य कैसे संसारसमुद्रसे तिरेगा?

ज्ञानस्वभावके आदरका अनुरोध— हे आत्मन्! अपने स्वरूपको निरखो, जो निष्काम है, किसी भी विषयकी बाधा जहां नहीं है--ऐसे अपने आनन्दघन स्वरूपको निरखकर विषयोंकी अभिलाषाको छोड़ दो। आनन्दका कारण तो वीतराग भाव है, रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना है। इस ज्ञानभावका आदर करो। ज्ञानमात्र मैं हूं, निर्दोष शुद्ध केवल प्रतिभासात्मक हूं--ऐसा अनुभव करो, परपदार्थोंकी प्रीति छोड़ो, इसमें ही कल्याण है।

उत्पन्नोऽस्यतिदोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिमान्।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः॥
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोऽसि जन्मिन् वृथा।
किं मत्तोस्यसि किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः॥५४॥

देहकी अपनायतका फल— अनन्ते ही जन्मोंके धारण करनहारे हे मूढ़ जीव! तू ने इन ससार विषयोंको अनेक योनियोंमें पाया और महा दोषोंसे भरे, मल मूत्रादिकसे गर्भित इस देहको ही प्रेमपूर्वक अपनाता रहा।

इस देहके अपनायतका ही यह फल है कि जन्म मरणकी परम्परा चलती रही। लोग जन्मते समय बड़ी खुशी मनाते हैं, पर जन्म मरणसे भी खोटी चीज है इस ओर दृष्टि नहीं देते। मरण समय तो मनुष्यकी बुद्धि सावधान रह सकता है, किन्तु जन्म समयमें बुद्धि सावधान नहीं रहती है। मरण तो समतापूर्वक हो सकता है, पर जन्म समतापूर्वक नहीं होता है। मरणके बाद तो निर्वाण हो सकता है, पर जन्मके बाद निर्वाण नहीं होता। इस जन्मसे जो प्रेम करता है उसे जन्म मिलते रहेंगे।

जीव पर त्रिदोषसन्निपात— जीवके साथ तीन प्रकारके दोष लगे हुए हैं। एक तो शरीर, एक कर्म और एक रागादिक विभाव। इन तीनोंमें से दो तो परद्रव्य हैं—शरीर व कर्म, और विभाव स्वमें उत्पन्न हुए औपाधिक भाव हैं। इन तीनोंमेंसे दो तो परद्रव्य हैं। इन तीनोंसे आच्छादित यह जीव जन्मके बाद मरण, मरणके बाद जन्म, यों जन्म और मरणकी परम्परा बढाता चला जाता है और इस बीचमें क्रोध, मान, माया, भोग भोगोंकी अभिलाषा, मनकी चिंता और शरीरकी व्याधियां, इनसे यह जीवन पीड़ित रहता है। एक सहज शुद्ध निजस्वरूपके दर्शनके विना ये सारी विडम्बनाएँ अपने पर उपस्थित रहती हैं। इसी कारण इस केवल निजस्वरूपकी दृष्टिके लिए न इसकी बुद्धि चलती है और न रुचि जगती है। सारा जीवनका समय विषयोंके साधन जुटानेमें व्यतीत होता है, किन्तु विषयोंके साधन जुटा जुटाकर न तो किसी ने आज तक लाभ पाया और न कभी कोई पा सकेगा।

मूलकी भूलपर संसार विषवृक्षका विस्तार— इतिहासमें बड़े-बड़े बादशाह हुए। उन्होंने अपने जमानेमें बड़ा रोब फलाया, जिनके मरघट या कबर पर उनकी यादगारीके लिए बडे बड़े महल खड़े हुए हैं। जो उन्होंने अन्याय किया, पाप किया, विषयोंका साधन फैलाया, ये सब उनके अगले भवमें साथ देंगे। यह जीव अपनी अयोग्यताके कारण हीन आचरणकी ओर जल्दी झुकता है, अभक्ष्यका भक्षण, अयोग्य आचरण करके यह दुराचारी बन रहा है। यह नहीं समझता कि मैं अपने आपको ठग रहा हू। सारी भूल तो मूलमें यह है कि अपने स्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें अपनायतकी बुद्धि लगायी है। है स्वयं स्वयंरूप, पर उपयोगमें पररूप अपने को मान लेता है। बस इतनीसी मूलमें भूल होनेके कारण संसार-विषवृक्ष इतना बड़ा खड़ा हो गया है। हे जीव! तू जन्म मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है, बुढ़ापेसे ग्रसित है। व्यर्थ ही क्यों अभिमानसे उन्मत्त हो रहा है? तू अपने कल्याणका शत्रु बन रहा है और अकल्याणमें अपनी इच्छा बांध

रक्खी है, जिस प्रवृत्तिसे चल रहा है वह परमार्थ लाभदायक नहीं है।

मोहमें यथार्थ अपमानपर खेदका अभाव– भैया ! दूसरेके द्वारा कभी कोई अपमानभरी बात सुननेमें आए तो वह आगबबूला हो जाता है और खुद नाना कुयोनियोंमे जन्ममरण करता फिर रहा है। इतना बड़ा अपमान हो रहा है, इस अपमानको मिटाने की दृष्टि नहीं जगती। इन समस्त ससरणों का मूल कारण है कुबुद्धि। हम अपने आपमे संतोप करना नहीं जानते। यह स्वयं संतोष करने लायक है क्योंकि आनन्दघन है। स्वयं अपने आपमे अपने महत्वका संतोप नहीं जग रहा है तब बाहरी पदार्थोंमें हितबुद्धि करके यह तृष्णामें बढ रहा है, पर तृष्णासे कभी भी पूरा पड़ा है क्या ?

शरीरकी प्राप्ति और मुक्तिका उपाय— शरीर पाते रहनेका और शरीरसे छुटकारा पानेका मूल 'उपाय बहुत छोटासा है। यदि शरीर पाते रहनेकी अभिलाषा है तो शरीरको आत्मा मानते रहें। यदि मुक्त होनेकी अभिलापा है तो इस शरीरसे न्यारा ज्ञानमात्र आनन्दस्वरूप अपने आपको निरखें। अब यह निर्णय करलो और हितपूर्ण रुचि बनालो कि मुझे चाहिए क्या ? शरीर मिलते रहें, इनसे मेरा हित है या शरीर मुझे मिले नहीं, मैं शरीरके बिना ही जैसा सत् हू तैसा रहा आऊँ, इसमें हित है। विवेक करनेके बाद यह निर्णय आ ही जाना चाहिए कि मैं शरीरसे मुक्त रहकर केवल अपने स्वरूप ही रूप रहना चाहूगा। इस संसारमें काहे का सुख है ? जहां सर्वत्र अस्थिरता ही नजर आ रही है। यह सारा जगजाल अस्थिर है। ऐसे इस लोकमें कहां सुख मिल सकता है ? संसारमे कौनसी स्थिति ऐसी है जो इस जीवको लाभमय हो।

नारकी और स्थावर जीवोंके क्लेश— जीवकी चार ही तो गतियां हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। नरकगतिमें तो दुःसह दुःख ही दुःख हैं। जिसके दुःख श्रवण करने मात्रसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। तिर्यञ्चके दुःख तो यहा प्रत्यक्ष नजर आते हैं। तिर्यञ्चमें हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति; दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पशु पक्षी आदि पंच इन्द्रिय। इन सबके क्लेश प्रकट देख रहे हैं। पृथ्वीको खुदालियों से खोदते हैं, सुरंगोंसे तोड़ते हैं, वह भी जीव है और उस जीवपर ऐसा प्रहार किया जाता है, पर पृथ्वीजीव किससे फरियाद करे ? वह क्लेश सह करके मरण करती है और फिर वही की वही या अन्यत्र उत्पन्न हो जाती है। जल स्वयं एकेन्द्रिय जीव है, उसे गरम करना, बिलोरना, भाप बनाना ये सारी बातें होती हैं। क्या उस जलको कष्ट नहीं होता है ? अग्निको बुझा दिया, वायुको रवड़में भर दिया या बिजलीके पखोंसे बिलो दिया। वनस्पति

को तो छेदने भेदनेकी अनेक बातें होती हैं। वे एकेन्द्रिय जीव हैं। गृहस्थ जन इनका त्याग नहीं कर सकते, इसलिए वे क्रिया करते हैं। लेकिन जीव को जो दुःख होता है वह तो दुःख है ही।

कीटादिकोंके कष्ट-- ये ५ प्रकारके जीव मांसरहित हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमें तो निगोदिया जीव रहते ही नही हैं, किन्तु मांस वाले जितने देह हैं उन देहोंमे अनन्त निगोदिया भी बसा करते हैं, और इतना ही नहीं, इस मांसके आश्रयसे अनेक उसही जातिके जिनमे कि मांस है जीव उत्पन्न होते रहते है। इस तरह मांस वाले देहके भक्षणमे अत्यन्त अधिक दोष है, किन्तु जीव तो पृथ्वी जल आदिक भी हैं। मांस वाले जीवों के घातसे अनन्त जीवोंका घात होता है और दो इन्द्रिय आदिक त्रस जीवों का घात होना है, पर इन एकेन्द्रिय के घातमें अनन्तका घात नहीं होता और त्रसका घात नही होता। अन्तर इतना ही मात्र है, पर जो वह जीव है, वह तो मिट गया। कीडे मकौड़ोंका क्लेश देखो, इन्हें कौन बचाता है? कौन लट आदिक कीड़ोंसे प्रेम करता है? कोई विशेष धर्मात्माजन ही इन कीड़ा मकौड़ोंकी रक्षा कर पाते हैं।

पशु पक्षियोंके क्लेश--- पञ्चेन्द्रियमें पशु पक्षियों की अवस्था देखो। मोहीजनोंने कसाईखाना बना रक्खा है, मशीनोंका भी आविष्कार है जिसमें थोड़ी ही देरमे सैकड़ो पशु एक साथ कट जाते हैं। जब तक उन पशुवोंमें बल है, जब तक वे किसी काममे आते हैं तब तक बड़े प्यारसे पाले जाते हैं। दूध देने वाले जानवर कैसे प्यारसे पाले जाते हैं, पर वे जब वृद्ध हो जाते हैं, किसी कामके नहीं रहते हैं तो हत्यारोंके हाथ बेचकर उनका गला कटा देते हैं। कौन उनसे प्रीति रखता है? यही हालत पक्षियोंकी भी है।

तृष्णावश मनुष्योंके क्लेश--- यह संसार दुखोंसे भरा हुआ है। अनेक जीवोंकी अपेक्षा हम आप बहुत सुखी हैं, पर अपनेको कोई सुखी परखता ही नहीं है। कैसे परखे? तृष्णा साथमे लगी हुई है। अतः उसमे उसको दुःखी होना प्राकृतिक है। कर्तव्य तो यह है कि सम्पदाके संचयका भाव न बनाएँ, भाव यह बनाएँ कि मेरे धर्मभाव बढ़े। धनकी तो यह बात है कि जो कुछ होगा उसहीमे गुजारा कर सकते है। हममे ऐसा साहस है, कला है, पर धर्मभाव हमारा वृद्धिगत हो, मुख्य ध्येय यह ही होना चाहिये। पौद्गलिक समागमकी वृद्धिकी भावना न रखें। धन सम्पदाके बढानेकी भावना रखनेसे क्या सम्पदा बढ़ जायगी? न बढ़ेगी। भावना रखना चाहिए आत्मकल्याणकी।

दृढ़निर्णयपूर्वक धर्मपालनकी आवश्यकता-- भैया! कुछ-कुछ आदत

तो है धर्म करनेकी हम सबकी, तभी तो कभी-कभी घर छोड़कर तीर्थयात्रा में आते हैं, सत्संगतिमें समय लगाते हैं, धर्मके लिए अनेक दान और व्यय भी करते हैं, आदत तो है, पर एक दृढ़तापूर्वक निर्णय होकर यह चीज बने तो लाभदायक है। कुलपरम्परासे अथवा अधर्मभाव करनेमें ऊब आ जाती है, उस ऊबको मिटाने के लिए या कुछ लौकिक व्यवहारमे धर्म करनेसे कुछ कीर्ति और इज्जत रहती है आदिक अनेक कारणोंसे काम यह ही किया जाय तो यह मूलमें लाभ नहीं देता है। इतना दृढ़ निर्णय होना चाहिए कि हमारा जीवन धर्मपालन करनेके लिए है, वैभव बढ़ा बढ़ाकर रखा जानेके लिए नहीं है। कौनसी बुद्धिमानी है इसमें ? चिन्ता करके, पाप करके अपने को आकुल व्याकुल बनाकर सम्पदा जुड़ गयी और चले गए इस भवसे अब तो तेरे लिए यहां सब गैर ही हो गये।

परिजनोंकी भिन्नता— यह मोही प्राणी जिन्हें आज अपना परिजन मानता है, इस भवके क्षयके बाद तेरे लिए तो ये गैर हैं, अब परिजन नहीं र , तुझे क्या लाभ मिलेगा ? पूर्वभवमें भी जो लोग थे, वे यदि आज आपके सामने भी आ जायें तो आपके लिए गैर हैं, उनके सकट पर ऐसी करुणा न जगेगी जैसी कि आजके भवमे मिले हुए परिजनोंके प्रति करुणा जगती है। इष्ट चीजमें करुणा जगाना धर्मभाव नहीं है, मोह भाव है। जिसे मानते हैं कि मेरा है उनमें मोह जगता है। कैसा नाटक करते चले जाते हैं और उसमें ही मस्त बने रहते हैं।

विषयवाञ्छावोंकी व्यथायें— देखो इस भवमें काम-व्यथा, स्वादिष्ट भोजनके मौज पानेकी व्यथा और शेष भी इष्ट-विषयोंकी भोगनेकी व्यथा ये ही तो सब लिए हुए हैं। काम-व्यथाके विषयकी बात सुनो— जिस देहमें रुचि करता है यह मोही, वह देह ऊपरसे नीचे तक अशुद्ध वस्तुवोंसे भरा हुआ है। पर यह काम पिशाच अपना नाच करता है तो इसे सुध नहीं रहती है। ये देह हड्डी मांस मलमूत्र चामसे भरे हुए हैं। भला होता कि नाकके जो दो दरवाजे हैं इनमें सदा नाला बहता रहता तो ये जन मुग्ध न होते। यह देह स्पष्ट मलोंका पिंड है और फिर इस मल पिंड देहसे अपना माथा रगड़ कर कुछ लाभ भी तो नहीं पाता। विषयाभिलाषी मनोबल, वचनबल, कायबल ये सब खत्म कर देता है। सभी विषयोंमें ये ही सब हानियां हैं, फिर भी यह जीव विषयोंसे विराम नहीं लेता है।

यशोवाञ्छाकी व्यथा— यश कीर्ति फैलानेकी बात तो बड़ी अविवेक भरी है। अरे ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है, जिस विस्तारके आगे यह पाया हुआ हजार पाच सौ मीलका क्षेत्र कितनी गिनतीमें है ? जरासे क्षेत्रमें

मोहियोंके द्वारा कुछ यशकी बात कमा लो तो आगे विशाल क्षेत्र पड़ा है। मरकर न जाने कहां उत्पन्न हुए, फिर कहा तेरा यश रहा ? ये सब प्रलोभन हैं, इन प्रलोभनोंमे जो पतित हो जाता है वही पुरुष संसारमें रुलता रहता है, किन्तु जो प्रलोभनोंसे ठगे नहीं जाते हैं उन्हें लोग पागल कह कह कर निन्दा करते हैं तो भी वे अपने सत्पथसे विचलित नहीं होते हैं।

आन्तरिक कर्तव्यका निर्णय— भैया ! जिसमें शान्ति हो, कषाय मंद हो, आनन्दका अनुभव हो वह काम करना चाहिए। वह काम है ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति। ऐसा बल बढ़ायें कि ऐसी घटना होने पर भी जिसमें कि प्रायः सब लोग आकुल व्याकुल हो जाएँ, क्रोध करे, अपमान महसूस करें उन घटनावोंका भी यह केवल जाननहार रहे। सांसारिक विषम परिस्थितियों में भी कोई भव्य जीव अपनी सुध रखकर प्रसन्न रहें, तब यह धर्मधारण करनेका एक अधिकारी पूर्ण पात्र बनता है। हम ऋषि संतोंके अनुभवका लाभ उठायें, अपने आपका निर्णय करके उस मार्गमें चलनेका पूर्ण संकल्प बनाएँ, दुनिया कुछ कहो। शाश्वत ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वकी आस्थासे हम धर्मसाधना करें तो अवश्य पूर्ण शान्ति मिलेगी।

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः॥
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

तृष्णालुकी परिस्थिति— यह संसारी प्राणी इस वृत्तिसे चल रहा है जैसे कि कोई बैल प्यासा पानीकी चाहसे किसी सरोवरकी ओर जाय, जिस सरोवरके किनारे बड़ा दलदल कीचड़ है, वह कीचड़में ही फँस जाय और फँसा हुआ ताकता रहे कि वह पानी है, प्यास भी लगी है, पर वह असमर्थ है। सो जैसे प्यास बुझानेकी इच्छासे सरोवरकी ओर गया हुआ बूढ़ा बैल कीचड़में फँस जाय तो जो परिस्थिति उसकी है वैसी परिस्थिति संसारीजनों की है। यह संसारी प्राणी भी तृषासे व्याकुल है। इसकी तृषा है तृष्णा। जैसे तृषाके बढ़ाने वाली ग्रीष्मकालके सूर्यकी प्रचण्ड किरणें होती हैं ऐसे ही तृष्णाको बढ़ाने वाली ये इन्द्रियां हैं। इन्द्रियोंपर बढ़ी है तृष्णा जिसके, ऐसा यह अविवेकी पुरुष मनोवाञ्छित विषयोंको भोगने चला, पर विषयों का भी सुख नहीं ले पाया अर्थात् कोई वास्तवमें मौज भी नहीं ले पाया और बड़ी विपदामें फँस गया।

तृष्णाके क्लेशके कुछ उदाहरण— जैसे कल्पना करो कि कोई नवयुवक अपनी तृषा बुझानेके लिए एक वैवाहिक उद्यमसे पीड़ित है, सो चाहता

तो यह था कि हमारा जीवन सुखमय व्यतीत होगा, पर जैसे ही इस गृहस्थी में पग रक्खा वैसे ही आपत्ति तो बढ गयीं और शान्ति संतोष कुछ भी नहीं मिला। यही हालत संसारी जीवोंकी हो रही है। जो बात अपने अनुभवकी है वह बात तो स्पष्ट समझमें आ जाना चाहिए। आप जिस परिस्थितिमें हैं, यह परिस्थिति न मौज मानने लायक है और न घमंड करने लायक है। तृष्णा करके व्याकुल हो रहे हैं। क्या कोई १०-५ आदमी कमेटी बनाकर यह निर्णय दे सकते हैं कि कितना धन हो तो तृष्णा न होगी या कितना वैभव हो तो उसको धनी कहा जायगा ? हमारे ख्यालसे तो इसका निर्णय हो नहीं सकता। लोग सोचते हैं कि मुझे इतना धन मिल जाय तो सुख ही सुख रहेगा, फिर कोई कष्ट न होगा, लेकिन उतना प्राप्त हो जाने पर उससे आगेका दिखने लगता है, इतना और हो तो सुख मिलेगा। ऐसी तृष्णाके कारण लोग पायी हुई सुविधामें भी आराम नहीं ले पाते, क्योंकि मन तो आगेके लिए दौड़ रहा है। यह संसारी प्राणी मौज के ख्यालसे, शान्तिके ख्यालसे जो कुछ प्रयास करता है वह पापका प्रयास करता है। सब दुःखोंकी जड़ यह तृष्णा है।

पापके बापका एक प्रश्न--- एक पुरुष काशी विद्यालयसे पढकर घर आया। शादी उसकी हो गयी थी। घर पर आकर अपनी स्त्रीसे बढ़-बढ़कर बातें करने लगा। मैं ऐसा पंडित, ऐसा विद्वान् हू। मैंने इतने सिद्धान्तशास्त्र पढ़े हैं, इतनी डिगरियां हासिल करली हैं। तो स्त्री धीरेसे पूछती है कि हमें एक शंका है। क्या आप उसका उत्तर दे सकते हैं ? वह घमडसे बोला-- हां हां, मैंने बडे-बड़े दिग्गज विद्वानोंको परास्त किया है इतनी छोटी उमरमें ही स्त्री पूछती है बतावो पापका बाप क्या है ? अब पंडित जी ढूढने लगे पोथी पत्रोंमें, कहीं वही शब्द मिल जाये--- कहीं भी जब वे शब्द लिखे हुए न मिले तो सोचा कि गुरू जी ने और तो सब कुछ पढा दिया है पर एक छोटासा नुक्ता बताना छोड़ दिया है। अब मैं गुरुजीके पास जाऊँगा और उनसे इस प्रश्नका उत्तर पूछकर आऊँगा। चल पडे काशीकी ओर। जब शहरके किनारे पहुचे तो बहुत रात्रि हो गयी थी। वहा एक महल बना था उसके चबूतरेपर सो गये।

पापके बापका उत्तर--- पंडित जी सुबह जगे तो आगे के लिए चलने को सोचा। इतनेमें मकानकी मालिकन नीचे आयी और देखा कि विप्रदेव हमारे महलपर आए हैं पुण्योदयसे और यों ही बिना खाये जा रहे हैं। मकान मालिकनने कहा-- अरे विप्र महाराज ! कुछ खा पी करके यहासे जाइए ऐसे न जाइए। उसने पूछा कि तुम कौन हो ? वह बोली--मैं वेश्या हू। वह

मकान उस ही वेश्याका था। तो पंडित जी बोले— अरे रे रे, इस चबूतरे पर मैं सो गया तो इसका भी पाप अब मिटाना पड़ेगा, प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा, खानेकी बात तो दूर रही। वह बोली-महाराज आप व्याकुल मत हो आपके इस प्रायश्चित्तके यज्ञमे कितना खर्च होगा ? ये ले लीजिए २५ मोहरें अपना प्रायश्चित्त दूर कर लेना। भोजन तो आप यहीं करके जाइए। सामान आप मंगालो या हम दे दें फिर आप बनावो खावो। उसने सोचा चलो २५ मोहरें मिल रही हैं यहीं बना खा लें, क्या होता है। जब उसने चबूतरे पर भोजन बनानेकी तैयारी की तो वेश्या कहती है महाराज जैसी जमीन यह चबूतरेकी है वैसी ही जमीन भीतरमें है, आप देख लो कोई हर्ज नहीं है। महाराज ! भीतर बना लीजिए और उसमें अगर कोई दोष लगे तो ये २५ मोहरें ले लीजिए, प्रायश्चित्त कर लेना। पहुंच गया वह भीतर और अपने आप भोजन बनाने लगा तो वेश्या कहती है महाराज—आप क्यो हाथ जलाते हो, आपके तो सारे फटे हाथ हैं, तुमसे भी बढिया हमारे हाथ हैं, हम बना दे आप भोजन पावो और यदि उसमें कोई दोष लगता हो तो ये २५ मोहरें ले लो, प्रायश्चित्त कर लेना। उस वेश्याने रसोई बनायी। जब भोजन करने बैठा तो वेश्या बोली— महाराज आपने हम पर बहुत बड़ी दयाकी। अब अन्तिम निवेदन है कि आप हमारे हाथसे कौर ले लो और उसमें जो दोष हो उसके निवारणके लिए ये २५ मोहरें ले लो। उसने सोचा कि बनाया तो इसीने है अब इसके हाथसे खानेमे क्या होता है ? सो कहा ठीक है, खिला दो अपने हाथसे। अब उसने जहां खानेको मुँह बाया कि वेश्या ने दो तीन तमाचे जड़ दिये और कहा — अरे बुद्धूनाथ ! यही पापका बाप है। काशी जा रहे हैं आप, पापका बाप पूछने। क्या अर्थ निकला इसका ? लोभ पापका बाप बखाना है।

काल्पनिक क्लेशके कारण उचित सुविधाका भी अनुपयोग— देखो सभी अपने-अपने इस देहमे बंधे हुए दुःखी हो रहे हैं। और दुःखी होनेके लायक किसीकी स्थिति नहीं है। अरे खाने पीने, गुजारा करने लायक स्थिति है। सबकी सुबह शाम धर्मकी बातें मिलती हैं, मित्रता होती है। मानसिक संकटोंको हरनेके लिए ये परमागम शास्त्र हैं, कौनसी यहां दुःख की बात है ? मान लो कि हां हमे दुःख है, क्या ? जितनी आय है उतने से काम नहीं चलता। तो तुम जैसे हाथ पैर वाले और तुम्हारे जितने संतान वाले तो सभी हैं। कोईसा भी गरीबसे भी गरीब परिवार देखलो सब जिन्दे हैं कि मर गए। देखलो गुजारा उनका चलता है या नहीं। जीवनमें सत्कार्य है धर्म करने में, शोक शान बढ़ानेमें नहीं है, विषयभोगोंमें नहीं है,

सांसारिक यश प्रतिष्ठामें नहीं है। यह सब मायाजाल है। जसे स्वप्नमे देखी हुई चीज स्वप्नमें झूठ नहीं लगती है ऐसे ही मोहमें दिख रहे ये सब नाना दृश्य क्या कभी झूठ लग सकते हैं ? जैसे स्वप्नकी बात झूठ है ऐसे ही यह दृश्यमान् सब मायाजाल झूठ है। ये सब समागम नष्ट होते हैं। उद्यम करो सम्यग्ज्ञानके लिए। जो बात हम आपमें आत्माके आधीन नहीं है, वैभव कमाना, संचय करना उसके पीछे व्यर्थमे नाना विकल्प और श्रम बढाये जा रहे है और जो बात हमारे आत्माके आधीन है - शान्ति पाना, आनन्द पाना, ज्ञानानुभव करना, संकटोंसे मुक्त हो जाना, वास्तविक प्रसन्न रहना, ये सब जो आत्माके आधीन बातें हैं ये कठिन लग रही हैं।

सत्प्रयत्नका स्मरण— भैया ! एक बार भी तो नि'संकट शुद्ध अन्तस्तत्त्वके अनुभव कायत्न करलो। अपना उपयोग सब बाह्यपदार्थोंसे भिन्न असार जानकर उपेक्षा कर दो, उनसे मोह छोड़ दो और अपने आपके सहज स्वरूपपर दृष्टिपात करो। क्यों व्यर्थमें हैरान हो रहे ऊधम मचाकर कि जगत्के अनन्त जीवोंमें से एक झोंपड़ीमें बसे हुए चार छ' जीवोंको छाट लिया कि ये मेरे हैं और श्रद्धापूर्वक छाटा, बाकी सब गैर हैं। अरे, जितने जीव हैं वे सब अनेक बार तेरे परिवारके बंधु हो चुके हैं। जो जो भी कीड़े मकौडे दिख रहे हैं वे सब भी किसी भवके तुम्हारे भाई बन्धु हैं। जिन्हें आप मान रहे हैं कि ये मेरे हैं, इस भवके व्यतीत होनेके बाद जिन्हें हम आज गैर मानते हैं वैसे ही ये भी गैर कहे जायेंगे। फिर क्यों इनमें मुग्ध होते चले जा रहे हैं ? एक क्षण तो आत्मामें विश्राम लें और मोक्षका मार्ग प्राप्त करें, ज्ञानकी बात सुननेमें आये, ज्ञानकी बात जाननेमें आये, ज्ञानकी ही बात चर्चामें आये, चर्यामे ऐसा जीवन ढले तो बहुत कुछ विश्राम मिलेगा। इसके लिए जो आन्तरिक तपश्चरण करना होगा, वह तपश्चरण है ज्ञान भावनाका।

अहंकार और ममकारकी विकट व्याधि— जगत्के जीवोंने चार प्रकारके विकल्पोंसे अपने पर कष्टका बोझ अपने सिर पर ढाया है। वे बोझ हैं—अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि। जो मैं नहीं हूं उसे मानना मैं; यह तो है अहंकार। देह मैं नहीं हूं और मान रहे हैं कि मैं यह हूं यह है, अहंकार। हम नाम वाले नहीं और मानते रहें कि हम अमुक नाम वाले हैं यह अहंकार ही तो है। नामके साथ कुछ अपना सम्पर्क जुटा हुआ है क्या ? वे तो अक्षर हैं। उनमें से कोई अक्षर पहिले लिख दिया, कोई अक्षर बादमें लिख दिया तो उसमें क्या विशेषताकी बात हो गयी ? जो मैं नहीं हूं उसे मानें कि मैं यह हूं तो यही है अहंकार। इससे यह जीव परेशान

है। जब इसके बुद्धि आती है कि मैं बाप बन गया हूं तो इसे अनेक चिन्तावों का शिकार बनना पड़ता है। जब इसके चित्तमें आ गया कि लो अब मैं त्यागी हो गया हूं तो इसे त्यागी जैसी अपनी कला खेलनी पड़ती है। चित्तमे आ गया कि मैं साधु हो गया हूं तो साधु जैसी चेष्टा करनी पड़ती है। सम्यग्ज्ञान वह है जिसके प्रतापसे साधु हो जाने पर भी मै साधु हू, ऐसी श्रद्धा नहीं रहती है। 'उसकी श्रद्धा है कि मैं एक शाश्वत चैतन्य-स्वभावमात्र सत हूं नाम, पोजीशन, इज्जत आकार प्रकार इन सब रूप जो बुद्धि होती है वह बुद्धि अहंकार है। इस अहंकारसे पीड़ित हुआ यह संसारी प्राणी चतुर्गतिमें भ्रमण कर रहा है। जगत्के प्राणियोको दूसरा रोग लगा है ममकार का कि यह मेरा है।' अरे तेरा तो देह तक भी नहीं है। यह देह भी मेरे साथ नहीं ज ता। अन्तमें इस देहको तजकर ही जाना होता है। और फिर इष्ट जनोंको, वैभवको, मकानको इनको मान रहें हैं कि ये मेरे हैं।

कर्तृत्वबुद्धिकी व्याधि— तीसरा रोग है कर्तृत्वबुद्धिका। अज्ञानीजन मैंने किया, मैं कर रहा हूं, मै करूँगा, यह बुद्धि लिए रहते हैं। यहां तक कि कोई उपकारके काममें भी कोई संस्थाका पद दे दिया जाय तो उसका दिमाग फिर कर्तृत्वबुद्धिमे लग जाता है। घरमे रहते हुए कर्तृत्वबुद्धिमें, रंगा हुआ है—मैंने किया, अरे भरी सभामें खडे होकर कोई सभ्यपुरुष नहीं बोल सकता है कि मैने यह धर्मशाला बनवायी, मैने यह काम किया। अगर कोई ऐसा बोले तो लोग उसे असभ्य कहेंगे। जो बात चार जनोंमें भी बोली जा नहीं सकती है, उस कर्तृत्वभरे अभिप्रायकी बात श्रद्धामें हो तो वह कैसे शान्ति देगी—मुझे करनेको यह काम पड़ा है। काम करने से शान्ति नहीं मिलती है, किन्तु मेरे करनेको कोई काम नहीं पड़ा है—यह बुद्धि की जाय तब शान्ति मिलती है, कोई बड़ा काम कभी कर लिया तो काम की शान्ति नहीं है। उस समय जो मनमें यह बात बैठी हुई है कि मेरे करने को अब कुछ नहीं है, उसकी शान्ति है।

अकरणीयताका सन्तोष— जैसे किसी मित्रका आपके पास पत्र आया कि मैं ४ बजेकी गाड़ीसे आ रहा हूं, स्टेशन पर मिलना तो वह एक दिन पहिले से ही चूँकि उसे मिलनेका काम पड़ा है ना तो उसके मनमें व्याकुलता है। वह बड़ी जल्दी-जल्दी सारे काम करता है। स्टेशन पर भी बड़ी जल्दी पहुंचता है। स्टेशन मास्टरसे गाड़ीके आनेका समय पूछता है। अगर स्टेशन मास्टरने बता दिया कि आज गाड़ी १० मिनट लेट है तो वह दुःखी हो जाता है। जब गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गयी तो वह इधर उधर डिब्बेमें देखता है। जब किसी डिब्बेमें वह दिख गया तो उसके पास पहुंच

गया। एक मिनट तो खूब गले से मिलकर खूब मिला। अब डेढ़ मिनटके बाद ही झांकने लगा कि हरी झंडी तो अभी नहीं दिखाई जा रही है। गाड़ी चलने को तो नहीं है। अरे मित्रसे मिलनेका सुख होता है तो मिलते ही रहो। वह सुख मित्रसे मिलने का नहीं है, किन्तु मुझे मित्रसे मिलने का काम पड़ा है-ऐसी कल्पना थी तब तक क्लेश था। खूब अच्छी तरह सोचते जाइए। अब जब उसका मित्रसे मिलनेका काम नहीं रहा तो शान्ति आ गयी।

ज्ञानियोका शान्तिसाधक निर्णय— भैया! प्रत्येक कामकी यही बात है कि कार्यके होनेसे शान्ति नहीं मिलती, किन्तु मुझे कार्य करने को अब नहीं रहा इस भावकी शान्ति है। प्रत्येक काममें घटाते जाइए छोटेसे लेकर बड़े तक। संसारी प्राणी विषयसाधनोंको भोग करके शान्ति चाहते हैं। मनके माफिक कोई बात हो जाय तो उस कामके होनेसे उसे शान्ति नहीं मिली, किन्तु उस कार्यके होने पर जो यह भावना बनी कि अब मेरे करने को कार्य नहीं रहा, इस भावकी शान्ति है। ज्ञानीजन तो यह सदा ही निर्णय बनाये रहते हैं कि जगतमें मेरे करनेको कोई भी कार्य नहीं पड़ा है। मैं मैं हूं, पर-पर हैं, मेरा किसीसे वास्ता नहीं है। मैं अपनेमें अपने लिए अपने द्वारा अपने भावका कर्ता हूं, इसके आगे मेरी गति नहीं है। खुदके परिणमनसे, निमित्त-नैमित्तिक योगसे स्वयं उनके उपादानसे हो रहे हैं।

भोक्तृत्वबुद्धिकी व्याधि— चौथा रोग है भोक्तृत्वबुद्धिका? मैं भोग रहा हूं, मैं भोजन भोग रहा हूं। ध्यानसे समझनेकी बात है। मैं रूप, रस, गध, स्पर्श रहित चैतन्य आत्मतत्त्व हूं। उसमें भोजन चिपक भी सकता है क्या? जरा बहुत अंतः मर्म पर दृष्टि डालकर सुनना है। प्रश्न— नहीं भोजन चिपक सकता तो भोजनके चबानेमें फिर यह बोध कैसे हो जाता कि यह मिट गया है? उत्तर— भाई रसना इन्द्रियके निमित्तसे यह आत्मा भोजनसम्बन्धी ज्ञान करने लगता है। यह जरूरी नहीं है कि वह भोजन मुखसे चबाया जाय तब ही ज्ञान हो सके। भोजन बाहर पड़ा हो, न छुये तो भी ज्ञान हो जाता है, पर यह वीतराग होनेके बादकी बात है। जो देहके बंधनमें बद्ध है उसको तो इन्द्रियके निमित्तसे ज्ञान होता है। इस आत्माने रसना इन्द्रियके निमित्तसे भोजनविषयक ज्ञान को किया और उस ज्ञानके साथ ही रागको भोगा, भोजनको नहीं भोगा। यह उपचारसे कहा जाता है कि मैंने भोजन भोगा। यों ही सब पदार्थोंकी बात है। आप केवल कल्पना करते हैं, अपनेको भोगते हैं, बाहरमें कुछ नहीं भोगते।

शान्तिसन्देशमय अनुशासन— भैया! इस मुग्ध जीवको आसक्ति

लगी है ना, सो इसे शुद्ध विधिका परिज्ञान नहीं रहता और अनाप-सनाप मान्यता करके यह जीव दुःखी हो जाता है। जैसे दृढा बैल गया तो प्यास मिटाने, एक छोटे सरोवरकी ओर, पर कीचड़में फंस गया। सो फंसा फंसा दुःखी हो रहा है। प्यास भी नहीं बुझा पाता। ऐसे ही यह संसारी प्राणी पापोंका प्रयास करके विषयके साधनोंमे रलमिल कर गया तो था अपनी तृष्णाकी दाह बुझाने, मगर फंस गया। विकल्प और तृष्णा भी नहीं बुझी यह स्थिति है संसारी जीवों की संसारी जीवोंको दुःखसे छुटानेके लिये उन सुखार्थी जनों पर इस आत्मानुशासन ग्रन्थमें अनुशासन किया जा रहा है। यों चलो, यों मत चलो। आचार्यदेवने यहां सम्यग्ज्ञान का कर्तव्य दिखाया है और विषयोंसे विमुख होकर, आत्माकी ओर झुककर प्रसन्न रहनेका संदेश दिया है।

॥ इति आत्मानुशासन प्रवचन द्वितीय भाग सम्पूर्ण ॥

मुद्रक—खेमचन्द जैन, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ